हरीन्द्र श्रीवास्तव

सावरकर

लंदन में पांच तूफानी वर्ष

९५४.०३८४
हरी|सा

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, पुस्तकालय
इलाहाबाद

वर्ग संख्या .... ९५४.०३८४ ....

पुस्तक संख्या .... हरी/सा ....

क्रम संख्या .... ८८२८ ....

सावरकर : लंदन में पांच तूफानी वर्ष

राजपाल एण्ड सन्ज़

सावरकर

लंदन में पांच तूफानी वर्ष

(1906-1911)

" उत्तर-प्रदेश शासन, शिक्षा विभाग
(पुस्तकालय कोष्ठक) से अनुदान
स्वरूप

हरीन्द्र श्रीवास्तव

बहुचर्चित तथा मराठी के पु० भावे पुरस्कार से
सम्मानित अंग्रेजी पुस्तक "फाइव स्टार्मी इयर्स :
सावरकर इन लन्दन" का स्वतन्त्र हिन्दी रूपान्तर

मूल्य : पैंतीस रुपये (35.00)
संस्करण 1984 © हरीन्द्र श्रीवास्तव
राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली-110006, द्वारा प्रकाशित
SAVARKAR : LONDON MEIN PANCH TUFANI VARSH
(Biography) by Harindra Srivastava

उन अनेक
अनाम हुतात्माओं के नाम
जिनकी शौर्यगाथा
इतिहास के पन्नों पर नहीं,
काल के भाल पर
अंकित है

अर्पण

काटेंगे, हम मां के बंधन काटेंगे
यह जीवन-बाती इसी हेतु निबटेगी
बांटेंगे, हम सब मां के दुख बांटेंगे
यह पूत प्रतिज्ञा कभी नहीं टूटेगी

अपनी प्रतिभा से मां की प्रतिमा चमके
अपनी तरुणाई माँ की शक्ति बनेगी
वह ही शिक्षा जो मां के स्पने पूरे
वह ही दीक्षा जो दुश्मन से जूझेगी

मेरे वे सब सखा, सनेही, साथी
समिधा समान इस ध्येय के लिए आहुत
बाजीप्रभु बन बलि-पथ पर बढ़ आए
बलिवेदी तरुण रक्त से सिंचित

ये ध्येय-सिद्धि-सोपान, सफलता-साक्षी
जागा फिर भारत, भारतवासी जागा
हर्षित, हृत्तन्त्री-नाद-विभोर आज मैं
आसेतु हिमाचल निरातंक, भय भागा

हे मातृभूमि ! यह मन अर्पित है तुझको
वाणी-वैभव सब विद्या तुझे समर्पित
है विषय वांग्मय का अनन्य तू जननी !
यह मेरा नवरस काव्य तुझे ही अर्पित

—वीर सावरकर

(मराठी से भावानुवाद : वचनेश त्रिपाठी)

यह पत्र-कविता लंदन से सावरकर ने अपनी भाभी को लिखी थी—जब उनके पति अंडमान में बन्दी थे। कविता लंबी है—उसके कुछ अंश ही यहां प्रस्तुत हैं ।

कुछ शब्द

कहने-सुनने में यह बात थोड़ी अजीब भले ही लगे, पर है सच कि मेरी मूल अंग्रेजी पुस्तक 'फाइव स्टार्मी इयर्स : सावरकर इन लन्दन' सावरकर जन्मशती के लिए रचित होते हुए भी, वास्तव में एक ऐसे स्वप्न की देन थी जिसमें स्वयं सावरकर ने प्रकट रूप से कुछ 'सार्थक' लिखने का आदेश दिया। यह आदेश पालन कितनी बड़ी चुनौती था, इनका अनुमान इन बातों से लगाया जा सकता है कि एक तो मैंने स्वयं सावरकरजी को साक्षात् कभी देखा नहीं; दूसरे, मैं मराठी भाषा नहीं जानता; महाराष्ट्र में रहा भी नहीं हूं; फिर, राजनीति अथवा इतिहास मेरे क्षेत्र नहीं; और इतिहास का भी ऐसा पात्र जो विवादास्पद रहा है, या बना दिया गया है।

इतने सारे जोखिमों से जूझना कोई हंसी खेल न था। अतः कार्य पूर्ति में लगभग तीन वर्ष लग गए। दो वर्ष तो देश-विदेश जाकर सामग्री जुटाने में ही : पहले सारा महाराष्ट्र, फिर अंडमान, फिर यूरोप और अमरीका। पुस्तक हर दृष्टि से सफल रही, भरपूर सराही गई। इसी से प्रोत्साहित होकर हिन्दी रूपान्तर करने का साहस किया है। पर यह हू-ब-हू अनुवाद हो ऐसा भी नहीं है। कई प्रकार के संशोधनों एवं सुधारों के अतिरिक्त सतर्कता इस बात की भी बरती गई है कि पुस्तक अपने आप में पूर्ण और मौलिक लगे।

आगे, पाठकों की प्रतिक्रिया और आलोचकों के विचार—जिनकी मुझे स्वागतपूर्ण प्रतीक्षा रहेगी।

255, मियांवाली कालोनी,
गुरुग्राम, हरियाणा, 122001

हरीन्द्र

क्रम

कुछ शब्द	8
1906 : इंडिया हाउस : क्रान्ति के नक्षत्र	11
1907 : भारतीय स्वातंत्र्य समर की स्वर्ण-जयंती	40
1908 : एक ऐतिहासिक ग्रन्थ की रचना	63
1909 : नहीं ! सर्वसम्मति से नहीं !!	84
1910 : पेरिस, मार्सेल्स और हेग	112
1911 : एक जन्म : दो आजन्म कारावास	128
हिन्दी तथा मराठी संदर्भ ग्रंथ	131
अंग्रेजी संदर्भ ग्रन्थ	133

1906

इन्डिया हाउस : क्रान्ति के नक्षत्र

अंग्रेजी के मूर्धन्य कवि राबर्ट ब्राउनिंग की प्रबल इच्छा थी—"आए जब लन्दन में वसन्त, तब ही मैं आऊं···"

और देखिए, यह भी कैसा सुखद संयोग था कि जब सावरकर लन्दन पहुंचे तो वहां भरपूर वसन्त था।[1] यह और बात है कि उनके लिए इस सतरंगी ऋतु का अर्थ पारम्परिक आमोद-प्रमोद नहीं, वरन् एक ऐसा पर्व था, जिनमें मां के हाथों रंगा हुआ वसन्ती चोला पहनकर दिल डोल उठता है, अथवा जिसे कवयित्री सुभद्रा कुमारी चौहान ने 'वीरों का वसन्त' कहा है जिसमें, उदधि की हर गरज; प्राची, पश्चिम, भू, नभ और हिमालय से आती हर पुकार उनके समूचे अन्तस् को झकझोर कर उन्हें बार-बार बाल्यकाल की उस महाशपथ[2] की याद दिलाती थी,

1. लन्दन में लिखित आत्मकथा "शत्रूआंचा शिबिरांत" (मराठी) अर्थात् 'शत्रु के शिविर से' के पृष्ठ 41 के अनुसार सावरकर 9 जून, 1906 को बम्बई बन्दरगाह से 'पर्शिया' नामक जलपोत द्वारा 3 जुलाई को लन्दन पहुंचे।
2. 22 जून, 1897 को पूना में दो ब्रिटिश आततायी अफसरों को गोली से भून दिया गया। इस अपराध में तीन चाफेकर बन्धुओं को मई, 1899 को फांसी हुई। 16 वर्ष का बाल सावरकर तब अपने जन्मस्थान, भगूर, में ज्वर से पीड़ित था। तिलक के 'केसरी' अखबार में यह समाचार पढ़कर उसका रक्त खौल उठा। ताप से जलता शरीर लेकर वह उसी रात अपनी कुलदेवी अष्ट-भुजा के मन्दिर में पहुंचा। देवी के चरणों में बैठकर उसने चाफेकर बन्धुओं की शहादत का प्रतिशोध और अंग्रेजों को भारतभूमि से खदेड़ने की शपथ ली—भले ही तीनों सावरकर बन्धुओं की भी यही नियति हुई। याद रहे, सावरकर के आराध्य शिवाजी ने भी रोहिणेश्वर मन्दिर में ऐसी ही शपथ ली थी। तब उनकी आयु सत्रह वर्ष थी।

    अगली रात लगभग उसी समय सावरकर ने 'हुतात्मा चाफेकर' शीर्षक से एक पवाडे की रचना की। कविता लिखते समय उनके आंसू गालों पर ढुलक रहे थे और चेहरा आक्रोश से रक्तिम हो रहा था। हिचकियों की आवाज सुन उनके पिता दामोदर राव ने आकर पुत्र को आंसुओं और रक्त से कविता लिखते देखा। कुछ ही पंक्तियां पढ़कर उनका चेहरा चिन्तित हो

जो उन्होंने मात्र 16 वर्ष की आयु में अपनी कुलदेवी अष्टभुजा के चरणों में बैठ कर ली थी ।

वह शपथ थी —"जब तक मैं इन नृशंस विदेशियों को इस पावन मातृभूमि से खदेड़ नहीं दूंगा, चैन से नहीं बैठूंगा ।"

बीसवीं शती के आरम्भ का इंग्लैंड निश्चय ही संसार का सबसे सशक्त साम्राज्य था। इसकी राजधानी लन्दन प्रमुखतम नगर तो था ही, साथ ही विश्व की राजनैतिक गतिविधियों का केन्द्रबिन्दु भी था। वह चार वर्ष जो सावरकर ने लन्दन में बिताए, उनके जीवन-दर्शन के निर्माण की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण थे। यहां रहकर उन्होंने न केवल अंग्रेजी समाज, साहित्य, संस्कृति एवं सभ्यता का, वरन् आंग्ल राजनीति एवं कूटनीति का भी निकट से अध्ययन किया। अपनी लन्दन यात्रा के उद्देश्य की सबसे स्पष्ट अभिव्यक्ति उनके उस भाषण से मिलती है जो उन्होंने 18 नवम्बर, 1953 को बम्बई में दिया था। दादर में विद्यार्थियों के समक्ष अपनी प्रसिद्ध कविता 'सागरास' पर बोलते हुए उन्होंने कहा था : "मेरे इंग्लैंड जाने का एक परोक्ष कारण यह भी था कि मैं वहां जाकर बम बनाने का ज्ञान प्राप्त करूं, ताकि समय आने पर उन्हें अंग्रेजों के ही विरुद्ध प्रयोग किया जा सके।" 'शठे शाठ्यम् समाचरेत्' में विश्वास रखने वाले सावरकर का युद्ध दर्शन बुद्ध दर्शन के प्रतिकूल तो था ही, साथ ही उसमें अद्भुत अछूती दूरदर्शिता भी निहित थी। दूसरे महायुद्ध में जब उन्होंने भारतीयों को अंग्रेजी सेना में भर्ती होकर उनके साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़ने का आह्वान किया तो कई बड़े-बड़े भारतीय राजनीतिज्ञ भी चौंककर उनके राष्ट्रप्रेम पर सन्देह करने लगे। यह बात बहुत बाद में उनके पल्ले पड़ी कि जब तक भारतीय सैनिक अंग्रेजों के साथ मिलकर लड़ेंगे नहीं, उन्हें अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ने की नीति का बोध नहीं होगा। केवल विंस्टन चर्चिल जैसे सुघड़ कूटनीतिज्ञ ही उनकी यह चाल समझ पाये थे। उनके यही आशय और आशीर्वाद लेकर नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने आज़ाद हिन्द फौज का गठन किया था। भारत के भूतपूर्व सेनाध्यक्ष जनरल करिअप्पा ने भी सावरकर के युद्ध दर्शन को ही आदर्श माना था। 1983 में पूना में आयोजित सावरकर जन्म शताब्दी समारोह में सावरकर की प्रतिमा पर माल्यार्पण करते हुए जनरल मानिकशॉ ने कहा था—"यदि सावरकर जी प्रधानमंत्री होते तो पाकिस्तान के साथ 1965 के युद्ध के बाद हमसे पूछते : तुम जीता हुआ लाहौर क्यों छोड़ आए ? और हमारा उत्तर यह है कि यदि सावरकर जी प्रधानमंत्री होते तो हम उन्हें यह पूछने का अवसर ही नहीं देते।"

उठा। उन्होंने पुत्र को इतनी अल्पायु में ऐसे विप्लवी विचारों से दूर रहने को कहा और हल्की कविताएं रचने की सलाह दी। यह पवाड़ा आज भी मराठी साहित्य की श्रेष्ठ रचनाओं में गिना जाता है।

लन्दन में सम्पर्क

अंग्रेज़ों की पेचीदा कूटनीति को भली-भांति समझने के लिए यह आवश्यक था कि सावरकर उस समय लन्दन स्थित सभी विदेशियों से भी सम्पर्क स्थापित करते। इसके लिए उन्होंने आयरलैंड, फ्रांस, रूस व तुर्की के क्रान्तिकारियों के विषय में जानकारी प्राप्त की और उनसे सम्पर्क स्थापित किया, साथ ही उन भारतीय राष्ट्रवादियों से भी जो जापान के हाथों 1905 में रूस की करारी पराजय पर हतप्रभ थे। इस चमत्कारी, ऐतिहासिक घटना से कम से कम एक बात तो सिद्ध हो ही गई थी कि यूरोपीय शक्तियां अजेय नहीं हैं। इसी घटना से प्रेरित होकर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने अपने एक लेख में कहा—"शक्ति का सूर्य पुन: पूर्व से उदय हुआ है और इसका आलोक पूर्व के अन्य देशों में भी फैलेगा।" ठीक इसी समय इंग्लैंड में एक और धमाका हुआ। वहां उदारवादी दल की अभूतपूर्व विजय हुई। तेज़ी से बदलते इस घटनाचक्र से भारतीय क्रान्तिकारियों, विशेषकर सावरकर में नयी आशा और स्फूर्ति का संचार हुआ।

सावरकर के लन्दन प्रवास को समग्र रूप में समझने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि सावरकर से सम्बद्ध समस्त परिवेश को पूरी तरह समझा जाए। वह स्थान जहां वे रहे; वह तमाम व्यक्ति जो उनके सम्पर्क में आए; वह भाषण जो उन्होंने यहां-वहां दिए; वह लेख और कविताएं जो विभिन्न पत्र और पुस्तिकाओं में छपीं; वह सभा व संस्थाएं जो उन्होंने स्थापित कीं और इसी प्रकार उनकी अन्य गतिविधियों की जानकारी आवश्यक है। उन सबसे बढ़कर उनका महान् उद्देश्य जिसकी प्राप्ति हेतु उन्होंने तरह-तरह की व्यूह रचना की।

इण्डिया हाउस

लन्दन आते ही सावरकर पर सबसे अमिट छाप उन व्यक्तियों की पड़ी जिनके सम्पर्क में वे इंडिया हाउस के माध्यम से आये। 1905 में स्थापित 65, क्रामवेल एवेन्यू, उत्तरी लन्दन में स्थित यह विशाल भवन राज्य विरोधी गतिविधियों के लिए विख्यात था। भूरे बिस्कुटी रंग की यह तीन मंज़िली इमारत (जिसे सावरकर रक्तिम क्रान्ति व सूर्योदय की आभा का मिश्रित रंग कहते थे) आज भी ज्यों की त्यों विद्यमान है।[1] अखरोट के घने जंगली पेड़ों, कंटीली झाड़ियों और छोटी चारदीवारी से घिरा यह भवन कुछ रहस्यमय लगता था। शायद इसीलिए अंग्रेज़ गुप्तचर इसे तिलस्मी महल (हाउस आफ मिस्ट्री) भी कहा करते थे। पुस्तकालय, भाषण कक्ष एवं अन्य मनोरंजन की सुविधाओं से सम्पन्न इस

---

1. हर्ष की बात है कि सावरकर जन्म शताब्दी के उपलक्ष्य में ब्रिटिश सरकार इस भवन के आगे सावरकर स्मारक पट्टिका लगाने को तैयार हो गई है।

निवास में 25 से 30 व्यक्तियों के रहने की व्यवस्था थी। यहां रहने वालों का ठहरने और भोजन (जो अधिकतर भारतीय ही होता था) का 16 रु० प्रति सप्ताह देना होता था।

इसके संस्थापक गुजराती विद्वान, क्रान्तिकारी, कवि और सुधारवादी विचारक वही श्यामजी कृष्ण वर्मा थे जिन्होंने इसी वर्ष लन्दन में 'इंडिया होम-रूल सोसाइटी' और एक मासिक पत्रिका 'इंडियन सोशियालॉजिस्ट' का आरंभ किया था। मालूम नहीं, यह कहना कहां तक तर्कसंगत होगा कि आज केन्द्रीय लन्दन में स्थित भारतीय दूतावास, जिसे इण्डिया-हाउस अथवा भारत भवन ही कहा जाता है, अपने नाम के लिए श्यामजी कृष्ण वर्मा का ही ऋणी है।

श्यामजी कृष्ण वर्मा

श्यामजी कृष्ण वर्मा का जन्म 8 अक्तूबर, 1857 को गुजरात के कच्छ राज्य में माडवी के एक साधारण परिवार में हुआ था। बम्बई में शिक्षा प्राप्त करते समय ही वे स्वामी दयानन्द सरस्वती के कट्टर अनुयायी बन गए। विलक्षण बुद्धि का यह बालक संस्कृत में पारंगत था, यहां तक कि तत्कालीन संस्कृत विद्वान मैक्समूलर ने भी उसकी प्रतिभा की सराहना की। फिर 1875 में आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के प्रोफेसर मोनियर विलियम्स जब भारत आए तो वह भी इस युवक की प्रतिभा से इतने प्रभावित हुए कि उसे लन्दन बुलाकर अपना सहयोगी बनाने का निश्चय किया।

अन्ततः 1879 में लन्दन जाकर श्यामजी ने कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय से बी० ए० और आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से एम० ए० करने वाले पहले भारतीय होने का गौरव प्राप्त किया। साथ ही उन्होंने कानून की पढ़ाई भी जारी रखी। यह भी कम गर्व की बात नहीं कि मात्र एक लेख 'भारत में लेखन का उद्गम' के आधार पर ही उन्हें रायल एशियाटिक सोसाइटी का सदस्य बना लिया गया। 1881 में, जब वह केवल 24 वर्ष के थे, ब्रिटिश मंत्रिमण्डल में भारत के राज्य सचिव ने उन्हें बर्लिन में आयोजित पूर्व देशीय भाषाविज्ञों के सम्मेलन में भारत के प्रतिनिधि के रूप में भेजा।

1884 में भारत लौटने के बाद उन्होंने कई रियासतों में जैसे, रतलाम (1885-88), उदयपुर (1889-93) और जूनागढ़ (1893-95) के दीवान के रूप में कार्य किया। परन्तु देश में उभरती राजनीतिक असुरक्षा और आतंक के वातावरण, विशेषकर पूना में रैंड की हत्या और परिणामस्वरूप तिलक की गिरफ्तारी, से तंग आकर वे सदा के लिए भारत छोड़कर लन्दन जा बसे।

यहां आकर उन्होंने बैलियल कालेज में संस्कृत, गुजराती, मराठी भाषा का अध्यापन आरम्भ किया। साथ ही ग्रीक और लैटिन भी सीखी। इससे उन्हें पर्याप्त

धन प्राप्त हुआ। इसी समय वे अंग्रेज़ दार्शनिक हरबर्ट स्पेन्सर के संपर्क में आए। इस क्रान्तिकारी विचारक ने मानो उन पर जादू कर दिया। यही उनके नए राजनैतिक गुरु एवं आदर्श बने। धार्मिक दृष्टि से वे स्वामी दयानन्द के ही शिष्य थे।

इस नये गुरु के प्रभाव का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि 8 मई 1903 को जब उनका निधन हुआ तो श्यामजी ने उनके अन्तिम संस्कार के समय ही आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में हरबर्ट स्पेन्सर के नाम पर 1000 पाउण्ड की छात्रवृत्ति की घोषणा कर दी। एक अंग्रेज के प्रति किसी भारतीय के इस व्यवहार से वहां के समाचार जगत में खलबली मच गई। अगले ही वर्ष इस दार्शनिक की पुण्यतिथि पर श्यामजी ने पांच अन्य हरबर्ट स्पेन्सर भारतीय छात्रवृत्तियां घोषित कीं। 135 पाउण्ड (लगभग 200 रु०) की एक छात्रवृत्ति केवल उन भारतीयों के लिए थी, जो इंग्लैंड में जाकर आगे पढ़ना चाहते थे। पर इसके साथ कड़ी शर्त यह भी थी कि वे पढ़-लिख कर अंग्रेज़ों की नौकरी नहीं करेंगे। इसके फौरन बाद उन्होंने तीन अन्य भारतीय विभूतियों—स्वामी दयानन्द, राणा प्रताप और शिवाजी—के सम्मान में तीन अन्य छात्रवृत्तियां शुरू कीं। इन्हीं में से शिवाजी छात्रवृत्ति के लिए हमारे नायक विनायक ने आवेदन भेजा। अपने पत्र में उन्होंने लिखा—

"किसी भी देश की धड़कन उसकी स्वतन्त्रता होती है और अपने देश की स्वाधीनता ही मेरे रोम-रोम में बसी है। मैंने बचपन से आज तक हर रात इसी के स्वप्न देखे हैं और हर पल इसी का चिन्तन किया है।"

इस पत्र की सिफारिश करते हुए तिलक ने लिखा—

"एक-एक छात्रवृत्ति के लिए जहां इतनी आपाधापी मची हो वहां किसी विशेष व्यक्ति की सिफारिश करना व्यर्थ है। फिर भी, इन आवेदकों में से बम्बई के एक सावरकर हैं जिन्होंने पिछले वर्ष स्नातक की परीक्षा उत्तीर्ण की है और जिन्हें मैं देश की स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए बहुत उत्साहित पाता हूं—यहां तक कि इसके लिए इस युवक को फर्ग्युसन कालेज के अधिकारियों का कोपभाजन भी होना पड़ा। उसका सरकारी नौकरी का कोई विचार नहीं है तथा उसका आचरण भी उत्तम है।"

श्यामजी की उस कड़ी शर्त के उत्तर में सावरकर ने उन्हें लिखा—"आपकी वह शर्त जिसके अनुसार छात्रवृत्ति लेकर छात्र किसी भी प्रकार की सरकारी नौकरी नहीं कर सकता, मेरे लिए कोई अर्थ नहीं रखती। मेरे इस कथन के पीछे मात्र छात्रवृत्ति का मोह नहीं, वरन् अपने देश का प्रेम ही है। मैं ऐसा जघन्य पाप कभी नहीं करूंगा।"

अपने कथन, तिलक के आश्वासन एवं श्यामजी की आकांक्षाओं के अनुरूप 23-वर्षीय सावरकर कुछ ही समय में सबको पीछे छोड़कर भारत-भवन पर छा गए और श्यामजी के सबसे प्रिय और विश्वसनीय पात्र बन गए।

लन्दन पहुंचते ही सावरकर ने विधि के अध्ययन के लिए 26 जुलाई को 'ग्रे'ज इन' में प्रवेश प्राप्त किया। परन्तु, वास्तव में मूल उद्देश्य वही ब्रिटिश राजनीति के दांव-पेंच समझना और उसी के अनुरूप अपने को तैयार करना था। यह इस बात से स्पष्ट है कि उन्होंने इंग्लैंड आते ही घूमने-फिरने के बजाय 20 जुलाई से हाउस ऑफ कामन्स में होनेवाले भारतीय बजट भाषण को सुनने की इच्छा व्यक्त करते हुए राज्य सचिव को एक पत्र लिखा—

श्रीमान्,

मैं अभी हाल ही में भारत मे आया हूं, और आगामी 20 ता० को होने वाले बजट भाषण को सुनने को उत्सुक हूं। मैं अनुगृहीत होऊंगा यदि आप दो प्रवेश पत्र (एक मेरे एवं एक मेरे मित्र के लिए) भेजने की कृपा करें।

आशा है, कष्ट के लिए क्षमा करेंगे !

आपका,
वि० दा० सावरकर

पर यह प्रवेश पत्र सरलता से मिलनेवाले नहीं थे। इसके लिए पहले उन्हें डब्ल्यू० एच० वायली से 18 जुलाई को इंडिया ऑफिस में साक्षात्कार करना पड़ा। इस पात्र की विस्तृत चर्चा हम बाद में मदन लाल धींगरा नामक कांड में करेंगे। वायली ने इस भेंट का वर्णन इन शब्दों में किया है—

"एक महाशय सावरकर आज मुझसे मिले। वह हाउस आफ कामंस में होने वाला भारतीय बजट भाषण सुनने के लिए प्रवेश पत्र लेना चाहते थे। छोटे से कद का यह प्रखर व्यक्ति कुछ सकुचाया प्रतीत हुआ। इंडिया हाउस में श्यामजी कृष्ण वर्मा के साथ रहने वाला यह व्यक्ति 'ग्रे'ज़ इन' में वकालत पढ़ रहा है। सर विलियम ली वारनर उसे मेरे पास लाये और हम दोनों ने मिलकर यह निर्णय किया कि इस व्यक्ति को प्रवेश पत्र देने में कोई हानि नहीं है।"

फ्री इण्डिया सोसाइटी

सावरकर की अन्य गतिविधियों में प्रमुख थी लन्दन में 'फ्री इण्डिया सोसाइटी' का गठन। सावरकर के आदर्श मैज़िनी के 'यंग इटली' के अनुरूप यह संस्था भी उनके पूना स्थित 'अभिनव भारत मंडल' का ही नवीन रूप थी। यह मंडल भी नासिक में स्थापित उनके 'मित्र-मेला' संगठन का दूसरा रूप था, जिसकी स्थापना शती के आरम्भ में अर्थात् 1 जनवरी, 1900 को की गई थी।

लन्दन में इस नये मंडल की नियमित रूप से बैठकें होतीं। इसके सदस्य बहुत उत्साह से सभी भारतीय तीज-त्योहार मनाते। महापुरुषों, देशभक्तों, सन्तों आदि

के जन्म एवं पुण्यतिथियों पर श्रद्धांजलियां अर्पित की जातीं। साथ ही, देश की राजनैतिक समस्याओं पर भी चर्चा होती एवं संस्था के विस्तार पर ध्यान दिया जाता। इण्डिया हाउस के विषय में एक रोचक बात यह भी रही कि यद्यपि इसमें लगभग 25 व्यक्तियों के ठहरने की व्यवस्था थी, तो भी इसमें एक समय में एक साथ रहने वालों की संख्या कभी भी दस से अधिक नहीं हो पाई। इसका स्पष्ट कारण था, भवन का आतंकमय वातावरण —अर्थात् यहां रहना स्वयं खतरों को दावत देना था। हां, रविवार को होने वाली सभाओं और उसके बाद के सहभोज में इसका भाषण कक्ष प्राय: खचाखच भरा रहता था। इन सभाओं में सावरकर की भूमिका क्या होती थी, इसका सुन्दर और सशक्त चित्रण हमें 'चित्रगुप्त' द्वारा लिखित और 1926 में प्रकाशित उस पुस्तक में मिलता है जो उन्होंने सावरकर पर लिखी थी। बहुत से लोगों को सम्भवत: यह नहीं मालूम कि 'चित्रगुप्त' वास्तव में चक्रवर्ती राजगोपालाचारी का ही उपनाम था, जिसका प्रयोग वे राजनैतिक कारणों से अपने मूल नाम को छिपाने के लिए करते थे। यह पुस्तक भी, सावरकर पर लिखी गई अन्य पुस्तकों की भांति तुरन्त जब्त कर ली गई थी।

इण्डिया हाउस की इन सभाओं में सावरकर इटली, फ्रांस और अमेरिका के राजनैतिक संघर्ष व ऐतिहासिक क्रान्तियों पर बहुत ओजस्वी भाषण देते। उनकी भाषा शैली, विद्वता, शब्द शक्ति तथा उच्चारण श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध कर देते। शीघ्र ही उनकी संस्था में नवयुवक भरती होने लगे। इनमें से कुछ विश्वसनीय तथा चुने हुए युवकों को उत्तरदायित्व का कार्य सौंप दिया जाता। इनमें से अधिकांश विद्यार्थी वे थे जो कैम्ब्रिज या आक्सफोर्ड विश्वविद्यालयों में अथवा एडिनबरा व मैनचेस्टर में शिक्षा प्राप्त कर रहे थे।

उपलब्ध आंकड़ों के अनुसार उस समय इंग्लैंड में पढ़ रहे भारतीयों की संख्या लगभग 700 रही होगी। इनमें से लन्दन में 380, एडिनबरा में 150, कैम्ब्रिज में 85, आक्सफोर्ड में 32, मैनचेस्टर में 16, बर्मिंघम में 11 और अन्य स्थानों पर 26 थे। रविवारीय सभाओं में भाग लेने वालों की संख्या 100 से अधिक भी हो जाती थी।

सावरकर की इस संस्था के नाम और काम ने ऐसी धूम मचा दी कि एक वर्ष पूरा होते-होते इसके सामने श्यामजी की 'इंडिया होम रूल सोसाइटी' हल्की पड़ने लगी। यह देखकर स्वयं श्यामजी ने भी शीघ्र ही सार्वजनिक घोषणा द्वारा अपने आपको सावरकर की संस्था से सम्बद्ध कर लिया। यहां तक कि 1907 में जब श्यामजी को अपनी सोसाइटी समेटकर तथा इंडिया हाउस का सारा कार्य भार सावरकर को सौंपकर पेरिस जाना पड़ा तो उन्हें पूरा विश्वास था कि सावरकर भी इसका संचालन उतनी ही कुशलता से कर लेंगे।

हो रही गतिविधियों से अनभिज्ञ थे ? इसका विस्तृत उत्तर पुस्तक में यथास्थान ही मिलेगा। किन्तु यहां उस गुप्त पत्र का हवाला देना आवश्यक है जो भारत सरकार ने सावरकर के भारत छोड़ते ही लन्दन स्थित इंडिया आफिस को भेजा था। पत्र इस प्रकार है -

गुप्त (कानफीडेन्शियल) विशेष विभाग,
पूना, 14 जून, 1906

क्रम संख्या, एस० डी० 2134

प्रिय रिचि,

मैं आपको एक ऐसे युवक के विषय में लिख रहा हूं जिसका नाम विनायक दामोदर सावरकर है। वह शीघ्र ही इंग्लैंड पहुंचने वाला है। आप उसके विषय में इंडिया हाउस में पूछताछ कर लें। उसे बहुत अधिक महत्त्व देने की भी आवश्यकता नहीं, पर हां, उसकी विचारधारा कुछ-कुछ दामोदर हरि चाफेकर जैसी है जिसने 1897 में रैंड साहब की हत्या की थी। संक्षेप में, वह कट्टर क्रांतिकारी है।

आपका विश्वसनीय,
एस० डब्ल्यू० बायरली

सावरकर के 'आचार-व्यवहार' की यह झलक भले ही अतिरंजित सही, हमें रॉलेट कमेटी की इस रिपोर्ट में भी मिलती है—

"लन्दन से श्यामजी ने जिन छात्रों को छात्रवृत्तियां देकर वहां बुलाया, उनमें एक बाईसवर्षीय चितपावन ब्राह्मण युवक विनायक दामोदर सावरकर भी है। फर्ग्युसन कालेज, पूना, का विद्यार्थी व बम्बई विश्वविद्यालय का स्नातक यह युवक पश्चिम भारत की एक पावन नगरी (नासिक) का निवासी है। यह नगरी आगे चलकर ब्राह्मणों के रोष एवं असंतोष का केन्द्र बनी। भारत छोड़ने से पूर्व विनायक 1905 में एक ऐसे आन्दोलन से सम्बद्ध था जिसके प्रवर्तक एक महात्मा श्री अगम्य गुरु परमहंस थे, जो स्थान-स्थान पर जाकर अंग्रेजी साम्राज्य व सरकार के विरुद्ध उत्तेजक भाषण देते थे। इसी आन्दोलन से प्रभावित होकर 1906 के पूर्वार्द्ध में पूना के कुछ विद्यार्थियों ने एक सस्था बनाई जिसके अगुआ सावरकर हैं। इतना ही नहीं, पूना में सावरकर ने इस महात्मा से भेंट भी की।"

इसी वर्ष 23 फरवरी को एक सभा में सावरकर ने यह सुझाव भी दिया कि आन्दोलन का उद्देश्य प्राप्त करने के लिए 9 सदस्यों की एक समिति का गठन होना चाहिए। तदनुसार जो समिति बनाई गई उसमें भी अधिकांश विद्यार्थी फर्ग्युसन कालेज के ही थे।

जून, 1906 में विनायक के भारत छोड़ने के बाद यह संस्था प्रायः लुप्त हो

गई। इसके अधिकांश सदस्यों ने विनायक के बड़े भाई गणेश द्वारा स्थापित 'अभिनव भारत संस्था' में प्रवेश ले लिया। सावरकर के प्रस्थान के समय वह और उनके बड़े भाई गणेश 'मित्र-मेला' नाम की उस संस्था के प्रमुख थे जिसकी स्थापना 1899 में गणपति-उत्सव के समय की गई थी। इसमें व्यायाम, कुश्ती, तलवार चलाने आदि का प्रशिक्षण भी दिया जाता था।

भाई परमानन्द

इंडिया हाउस में श्यामजी के अतिरिक्त ऐसे देश प्रेमी शूरवीरों की टोली भी थी जो सावरकर के सम्मोहक व्यक्तित्व से अछूती न रह सकी। इनमें विशेष उल्लेखनीय हैं भाई परमानन्द, लाला हरदयाल, सेनापति बापट, वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय, जे० सी० मुखर्जी, ज्ञानचन्द वर्मा, सरदारसिंह राणा, मदाम कामा और एम० पी० टी० आचार्य।

28 वर्षीय भाई परमानन्द इंग्लैंड आनेवाले प्रथम आर्यसमाजी युवक थे। दक्षिण अफ्रीका के मार्ग से आते हुए वे डर्बन में गांधी से मिले थे और जोहानीसबर्ग में कुछ समय उनके साथ भी रहे। पर इंडिया हाउस में सावरकर के सम्पर्क में आते ही वे उन्हीं के समर्थक एवं प्रशंसक हो गए। इतिहास विषय में विशेष रुचि के कारण उन्होंने यह निर्णय किया कि लन्दन में ही कुछ समय रहकर ब्रिटिश म्यूज़ियम लायब्रेरी[1] में भारतीय इतिहास का निष्पक्ष अध्ययन करें। लगभग डेढ़ वर्ष के सतत अध्ययन के बाद भाईजी ने लन्दन विश्वविद्यालय से स्नातकोत्तर डिग्री के लिए 'भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उत्थान' शीर्षक शोध प्रबन्ध लिखा। स्वयं उनके अंग्रेज़ गाइड ने भी, जो किंग्ज़ कालेज में प्रोफेसर थे, उनके कार्य की बहुत प्रशंसा की। पर विश्वविद्यालय ने प्रबन्ध पर पुनर्विचार के लिए दो ऐंग्लो-इंडियन प्राध्यापक नियुक्त किए और जैसी आशंका थी, इन सरकारी पिट्ठुओं ने इस शोध प्रबन्ध को अस्वीकृत कर दिया।[2]

1908 में भारत लौटने पर उन्होंने कुछ समय तक लाहौर में अध्यापन कार्य

---

1. स्वयं सावरकर ने भी इसी पुस्तकालय में बैठकर भारतीय इतिहास के पुनर्लेखन का कार्य किया और भारतीय स्वातंत्र्य समर पर ऐसी पुस्तक लिखी जिसने समस्त विश्व को हिलाकर रख दिया। पुस्तक की विस्तृत चर्चा तीसरे अध्याय में होगी। यहां यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि प्रस्तुत पुस्तक का अधिकांश भाग स्वयं मैंने भी इसी पुस्तकालय में बैठकर लिखा है।
(लेखक)

2. 'स्टोरी ऑफ माई लाइफ', पृ० 33, लेखक, भाई परमानन्द।

किया। कुछ पुस्तकें लिखीं[1] और आर्य समाज की सेवा की। देश की रुग्ण राजनीति से क्षुब्ध यह महान् क्रान्तिकारी लाला हरदयाल से मिलने अमरीका गए। लालाजी को वे लाहौर से ही जानते थे और एक बार लन्दन में भी उनसे मिल चुके थे। अमरीका आकर उन्होंने सान फ्रांसिस्को विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया और 1913 में डिग्री लेकर भारत लौट आए। यहां आते ही उन्हें ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध संदिग्ध गतिविधियों के अभियोग में गिरफ्तार कर मुकदमा चलाया गया—हालांकि उनके विरुद्ध सभी आरोप सर्वथा हास्यास्पद थे। इनमें से एक 1912 का दिल्ली षडयन्त्र था, जिन दिनों वे भारत में थे ही नहीं। नियुक्त तीन न्यायाधीशों में से दो ने उन्हें मृत्युदंड दिया जबकि तीसरे ने आजीवन कारावास। अन्त में उन्हें आजीवन कारावास भुगतने के लिए अंडमान भेज दिया गया जहां सावरकर जून 1911 से एक नहीं दो आजीवन कारावासों का दण्ड भुगत रहे थे। सरकार इन दोनों के पूर्व सम्बन्धों के विषय में इतनी सावधान थी कि लगभग 5 वर्ष अंडमान में रहते हुए भी यह दोनों देशप्रेमी केवल एक बार ही मिल पाए। अभी हाल ही में प्रकाशित[2] धर्मवीर द्वारा लिखित भाई परमानन्द के जीवन चरित्र में सावरकर और परमानन्द के सम्पर्क का बहुत रोचक वर्णन है।

लाला हरदयाल

दिल्ली के एक कायस्थ परिवार में 1884 में जन्मे लाला हरदयाल की शिक्षा दिल्ली के ही सेंट स्टीफेंस कालेज में हुई। बाद में पंजाब विश्वविद्यालय से 1901 में अंग्रेजी में एम० ए० करके प्रथम स्थान पाया। 1905 मे सेंट स्टीफेंस कालेज में ही अध्यापन कार्य करते हुए उन्हें पंजाब राज्य की ओर से 200 पौंड की छात्रवृत्ति मिली। इसके आधार पर उन्होंने सेंट जॉन्स कालेज, लन्दन, में इतिहास (आनर्स) में प्रवेश लिया। वहां 1907 में श्यामजी कृष्ण वर्मा की भांति उन्हें भी बोदीन संस्कृत छात्रवृत्ति प्रदान की गई। बहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न इस मेधावी छात्र की स्मृति विलक्षण थी। कहते हैं कि वह एक ही समय में शतरंज खेलते-खेलते अरबी और लैटिन की कविताएं याद करते थे और गणित के प्रश्न भी हल कर लेते थे।[3]

---

1. उनकी प्रमुख रचनाएं थीं यूरोप का इतिहास', 'महाराष्ट्र का इतिहास', 'पंजाब का इतिहास', आदि। पर यह सभी पुस्तकें अंग्रेज़ सरकार ने ज़ब्त कर लीं।
2. 'भाई परमानन्द और उनका युग', भाई परमानन्द स्मारक समिति।
3. एमिली सी० ब्राउन, 'हरदयाल, हिन्दू रिवोल्यूश्नरी एण्ड रेशनलिस्ट', पृ० 13.

कट्टर हिन्दू होने के नाते यह स्वाभाविक था कि वह सावरकर के सम्पर्क में आए और भारत-मुक्ति आन्दोलन के लिए उन्होंने सर्वस्व समर्पित कर दिया। उनकी इन प्रवृत्तियों से ब्रिटिश अधिकारीगण बौखला उठे। इस बीच 'इंडियन सोश्यालाजिस्ट' के मई, 1906 अंक में छपे अपने एक लेख से वह राजनीतिक क्षितिज पर धूमकेतु की भांति चमक उठे। अधिकारियों की भृकुटि तनती देख उन्होंने तुरन्त अपनी छात्रवृत्ति ठुकरा दी। उनके इस क्रांतिकारी रवैये से राजनैतिक एवं बुद्धिजीवी क्षेत्रों में सनसनी फैल गई। कहते हैं कि हरदयाल के बिना आक्सफोर्ड की सांस्कृतिक चहल-पहल फीकी पड़ गई थी, यहां तक कि विश्वविद्यालय के दरो-दीवार भी उदास और सूने नज़र आते थे।

सितम्बर, 1908 में वे कुछ समय के लिए भारत आए, पर शीघ्र ही इंग्लैंड वापस जाकर राष्ट्रीय स्वतंत्रता आन्दोलन में और भी अधिक उत्साह से जुट गए। वहां से अमेरिका जाकर कुछ समय तक स्टेनफोर्ड विश्वविद्यालय में निःशुल्क कार्य किया। पर जिसके हृदय में राष्ट्र प्रेम की ज्वाला धधक रही हो, उसका मन भला अन्य किसी कार्य में कैसे लगता। फलस्वरूप, विश्वविद्यालय से त्यागपत्र देकर उन्होंने 'इन्टरनेशनल रेडिकल क्लब' और 'फ्रेटर्निटी आफ द रेड फ्लैग' की स्थापना की। यह वही जुड़वां अंकुर थे जो कालान्तर में फल-फूलकर अन्तत: गदर पार्टी के रूप में उभर कर आए। निःसंदेह, अंग्रेज़ी साम्राज्य के विरुद्ध विदेशों में स्थापित यह सबसे सशक्त संगठन था। इस पार्टी ने 436, हिल स्ट्रीट, सानफ्रांसिस्को में अपना कार्य आरम्भ किया। 1 नवम्बर, 1913 में यहीं से प्रकाशित 'गदर' अथवा 'हिन्दुस्तानी गदर' नामक साप्ताहिक पत्र इसी पार्टी का उद्घोषक था।

बर्तानिया हो या अमरीका, जर्मनी हो अथवा जेनेवा, लाला हरदयाल जहां भी रहे उन्होंने अपना मूल कायस्थ स्वभाव नहीं छोड़ा—हास्य, वाक्‌चातुर्य और शेरो-शायरी से लगाव। 1912 में दिल्ली में लार्ड हार्डिंग पर बम फेंका गया। वह स्वयं तो बच गया पर उसका टोप लुढ़क गया। इस घटना पर हरदयाल के मुंह से स्वतः दिल्ली के ही मीर तकी 'मीर' का यह शेर फूट पड़ा—

मीर पगड़ी संभाल कर चलियो,
और कूचे नहीं, यह दिल्ली है।

गांधीजी की उदारवादी नीतियों के समक्ष अपने क्रान्तिकारी दृष्टिकोण को लेकर वह बार-बार एक ही मुहावरा दोहराते थे—'सौ सुनार की, एक लुहार की।'

सेनापति बापट

पांडुरंग महादेव बापट उर्फ सेनापति बापट 1904 में बम्बई से सर मंगल

दास छात्रवृत्ति लेकर इन्जीनियरिंग के अध्ययन के लिए एडिनबरा गए थे। पर सावरकर के सम्पर्क में आते ही उन पर भी राष्ट्र प्रेम का जुनून मंडराने लगा। बिना इस बात की परवाह किए कि वे सरकारी छात्रवृत्ति पर आए हैं, उन्होंने 'भारत में अंग्रेज़ी शासन' शीर्षक से एक ओजस्वी भाषण दिया। फिर शायद यह मानकर कि कहीं लोग इसे सुनकर अनसुना न कर दें, इसे प्रकाशित भी करा दिया। 'इंडिया ऑफिस' को यह बात बहुत अखरी। पर सेनापति को इस बात की रत्ती भर भी परवाह न थी। वह तो यूं भी अपने आपको क्रान्तिकारी लेखक के सांचे में ढाल रहे थे। इसके लिए उन्होंने फ्रांस जाकर बम बनाने की विधि सीखने की योजना भी बनाई थी। पर सावरकर की प्रचंड प्रतिभा से प्रभावित होकर उन्हें अपना विचार बदलना पड़ा। अपने इस विचार परिवर्तन के कारणों का उल्लेख करते हुए सेनापति ने 27 मई, 1938 के 'मराठा' में लिखा --"मेरे मन परिवर्तन का प्रमुख कारण वह छाप थी जो सावरकर के ओजस्वी लेखों एवं भाषणों ने मुझ पर डाली। इस जन्मजात क्रान्तिकारी, लेखक और वक्ता के आगे भला मेरी क्या बिसात थी! मुझे अनुभव हुआ कि मैं लिखने-बोलने का कार्य उन्हीं के लिए छोड़कर क्रान्ति के किसी अन्य क्षेत्र में कार्य करूं।"

'जैसे को तैसा' --सावरकर की इस नीति के समर्थक सेनापति ने एक अन्य लेख में कहा—"न्याय और स्वातंत्र्य के लिए हत्या भी तर्कसंगत और उचित है।" इसे पढ़कर तो इन्डिया ऑफिस बौखला उठा और तुरन्त उनकी छात्रवृत्ति छीन ली गई। भारत के सभी राष्ट्रवादी पत्रों ने सेनापति के साहस की प्रशंसा की। तिलक के 'केसरी' ने तो इससे भी आगे जाकर श्यामजी से इस आड़े वक्त में उसकी सहायता करने का अनुरोध किया।

बाद में उनका कुछ ऐसा कायाकल्प हुआ कि वे कट्टर गांधीवादी हो गए। पर तब भी उनके और सावरकर के परस्पर सम्बन्धों में कोई अन्तर नहीं आया, यद्यपि उन्हें कई बार इसकी कीमत भी चुकानी पड़ी। 1931 में वे सावरकर से मिलने रत्नगिरि गए। यहां एक जनसभा में उन्होंने 22 जुलाई को कट्टर, सावरकरवादी वी० बी० गोगटे द्वारा पूना के फर्ग्युसन कॉलेज में एक अंग्रेज अफसर जे० ई० बी० हॉटसन पर गोली चलाए जाने के साहसिक कार्य की प्रशंसा की। हॉटसन स्वयं तो कवच पहने होने के कारण बच गया, पर सेनापति अपने इस भाषण के लिए नहीं बच पाए। सावरकर से भेंट व इस भाषण की कीमत उन्हें सात वर्ष के कारावास से चुकानी पड़ी।

वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय

हैदराबाद के एक संभ्रान्त परिवार के वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय, प्रसिद्ध विद्वान, भाषा शास्त्री एवं कवि पंडित अघोरनाथ चट्टोपाध्याय के पुत्र तथा भारत-

कोकिला सरोजिनी नायडू तथा प्रसिद्ध व्यंग्य कवि एवं हास्य अभिनेता हरीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय के बड़े भाई थे। कलकत्ता विश्वविद्यालय से बी० ए० की डिग्री लेकर वे 1903 में आई० सी० एस० की परीक्षा देने लन्दन गए पर उत्तीर्ण न हो सके। कानून की पढ़ाई के लिए उन्होंने 'मिडिल टेम्पल इन' में प्रवेश लिया। असाधारण प्रतिभाशाली वीरेन्द्र के लिए सुनहरे भविष्य के कितने ही द्वार खुल सकते थे पर उसका मन तो इंडिया हाउस की खिड़कियों से निकलते देश-प्रेम के शोलों मे झुलस रहा था। सावरकर की टोली में आते ही 'चट्टो' का (सावरकर उन्हें इसी नाम से पुकारते थे) यह विश्वास और भी दृढ़ हो गया कि स्वतंत्रता-समर में सब कुछ उचित है, चाहे इसके लिए लेखनी उठानी पड़े अथवा बन्दूक या फिर दोनों ही।

संघर्ष की इस कंटीली डगर पर जोखिम और विपत्तियां अवश्यम्भावी थीं—और वह आईं भी। पर यह कहना उचित न होगा कि चट्टो का संघर्ष और संकट अनुपात में कम थे। पहले तो उसकी डिग्री ज़ब्त कर ली गई। फिर उन्हें तरह-तरह से परेशान किया जाने लगा। तंग आकर वे पेरिस चले गए जहां से उन्होंने 'तलवार' नाम से एक पत्र निकाला जो उनके शौर्य दर्शन के अनुरूप था। सावरकर से मिलने वे प्रायः लन्दन जाते रहते थे। इस बात का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि 1910 में जब सावरकर ब्रिक्स्टन जेल में थे और उनसे मिलने आनेवाले हर व्यक्ति से गहरी पूछ-ताछ होती थी, तब लगभग साढ़े तीन महीनों में अकेले चट्टो ही सावरकर से मिलने पंद्रह बार गए। पंडित नेहरू ने, जो क्रान्तिकारियों के प्रति सदा ही उदासीन रहे, अपनी 'आत्मकथा' में लिखा है—

"लन्दन में रहनेवाले नौसिखिये पर तेज़तर्रार नवयुवकों की टोली में एक व्यक्ति उन सबसे अलग था—वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय नामक यह युवक भारत के एक प्रसिद्ध परिवार से सम्बद्ध था। (आश्चर्य होता है, पंडितजी ने उनके परिवार का नाम, विशेष रूप से सरोजिनी नायडू से उसके सम्बंध का उल्लेख क्यों नहीं किया ?—लेखक) चट्टो के नाम से लोकप्रिय यह व्यक्ति बहुत योग्य और दिलचस्प होते हुए भी अक्सर मुफलिस ही दीखता। उसे फटेहाल देखकर विश्वास नहीं होता था कि इसकी रोज़ी-रोटी कैसे चलती होगी। पर इस तंग-हाली में भी उसकी खुशमिजाजी में कमी नहीं दिखाई दी। वह मुझसे कुछ दर्जे ऊपर था। मैं अभी हैरो स्कूल में ही था कि वह आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में जा चुका था। एक बार भारत छोड़ देने के बाद वह लौटकर देश नहीं आया, यद्यपि कभी-कभी वह वापस आने के लिए छटपटाता था। सम्भवतः वह अपनी जड़ों से इतना कट गया था कि यदि वापस आता भी तो अपनी धरती से जुड़ नहीं पाता। फ़िर भी, घर की कसक उसके मन से कभी न जा सकी। कुछ लोग विदेश में

कितना ही रह लें, स्वदेश को भुला नहीं पाते। लौटना चाहते हुए भी न लौट पाने की विवशता में उनका तन-मन तिल-तिल जलता रहता है।

"मैं जितने भी क्रान्तिकारियों से मिला, मुझे सबसे अधिक वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय और एम० एन० राय ने प्रभावित किया।"

प्रथम महायुद्ध छिडते ही वीरेन्द्रनाथ जर्मनी चले गए। वहां लाला हरदयाल; राजा महेन्द्र प्रताप, अविनाश भट्टाचार्य, डा० चम्पारन पिल्लै ने जर्मन युद्ध कैबिनेट की सहायता से इंडियन इंडिपेंडेन्स लीग की स्थापना की। इसे 'बर्लिन कमेटी' भी कहा जाता है। यहां से उन्होंने भारतीय नरेशों को क्रान्ति के लिए उकसाना आरम्भ किया। तुर्की के सुल्तान और जर्मनी के कैसर के संरक्षण में चट्टो ने, जो स्वयं इस कमेटी के उपाध्यक्ष भी थे, यह योजना बनाई कि तीन सशस्त्र युद्धपोत भारत भेजे जाएं। पहले पोत का उद्देश्य था कि 500 जर्मन अफसरों तथा 1000 सशस्त्र सैनिकों को लेकर अंडमान पर आक्रमण करके उसके राजनैतिक बन्दियों, विशेषकर सावरकर, को छुड़ाना और वहां से कलकत्ता पहुंचना। इसी प्रकार दूसरे को बंगाल व तीसरे को पश्चिमी तट की ओर बढ़ने का आदेश था।

योजना यह थी कि इधर बर्मा पर आक्रमण होगा, उधर पंजाब और बंगाल में क्रान्तिकारी उठ खड़े होंगे। ठीक इसी समय अफगानिस्तान और बलूचिस्तान की ओर से भी भारत पर हमला बोल दिया जाएगा। यहां लन्दन में रह रहे सावरकरवादी श्री वी० एस० आनन्द का वह वक्तव्य[1] बहुत महत्वपूर्ण है जो उन्होंने स्वयं इस योजना से सम्बद्ध जर्मन सेनाधिकारियों, डा० एमिल हेलफेरिख, वरनर आटो वॉन हेन्टिग और डा० हरबर्ट मुलर से मिलकर दिया :

"बर्लिन में स्थापित इंडियन लीग का एक प्रमुख उद्देश्य यह भी था कि अंडमान से भारतीय राजनैतिक बन्दियों को मुक्त कराया जाए। इसे लेकर कई योजनाएं बनीं और इसके लिए जर्मन युद्ध कार्यालय ने भरपूर सहयोग और सहायता भी दी।

"इसी उद्देश्य को लेकर 'एमदीन' नामक एक शक्तिशाली जर्मन युद्धपोत ने बंगाल की खाड़ी में प्रवेश भी किया और पूर्वी तट पर खड़े ब्रिटिश मालवाहक जहाज़ों पर गोलाबारी की। यहीं से आगे बढ़कर इसे पोर्ट ब्लेअर पर आक्रमण करके सेल्युलर जेल से सावरकर को छुड़ाना था। पर, न जाने कैसे, ब्रिटिश सरकार को इस योजना की भनक पड़ गई। उसने तत्काल ही कैदियों को केन्द्रीय मीनार में बन्द कर कड़ा पहरा बैठा दिया। उधर 'एमदीन' पोत नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया और सावरकर को छुड़ाने की योजना विफल हो गई।"

चट्टो का अन्त कहां और कैसे हुआ, यह बात नेताजी के अन्त की भांति आज

1. वी० एस० आनन्द : 'ए स्टडी इन द इवोल्यूशन आफ इन्डियन नेशनलिज्म', पृ० 47.

भी रहस्य बनी हुई है। कहा जाता है कि जर्मनी से वह साम्यवादी होकर रूस चले गए थे और ट्राटस्की के अनुयायी बन गए थे। यहीं सम्भवत: स्टालिन सरकार के हाथों उनका अन्त[1] हुआ।

जे० सी० मुखर्जी

यह वयोवृद्ध बंगाली 'दादा' गांधी के 'इंडियन ओपीनियन' पत्र के लिए 'लन्दन की चिट्ठी' नामक साप्ताहिक स्तम्भ लिखा करते थे। सावरकर के सम्पर्क में आते ही उनके व्यक्तित्व में ऐसा नाटकीय मोड़ आया कि गांधी के पत्र से सम्बद्ध होते हुए भी वह दिनों-दिन कट्टर होते गए। एक बार तो उन्होंने यहां तक लिखा—"इस गोरे दुश्मन का मुंह काला करो और इसे देश से निकाल फेंको।"

ज्ञानचन्द वर्मा

कानून की पढ़ाई के अतिरिक्त ज्ञानचन्द वर्मा 'फ्री इंडिया सोसायटी' के सचिव भी थे। आर्थिक दृष्टि से साधारण होते हुए भी वह साहस और संकल्प के धनी थे। सावरकर उनके विषय में कहा करते—"यदि इस व्यक्ति ने किसी काम का बीड़ा उठा लिया तो समझ लो, वह काम हो गया। उसे दुनिया की कोई ताकत रोक नहीं सकती।"

सरदारसिंह रेवाभाई राणा

राणा साहब, या लोग जिन्हें आदर से राजा साहब भी कहते थे, सौराष्ट्र के एक राजसी राजपूत परिवार के थे। लिम्बड़ी रियासत के 'भयात' (राजकुमार) होने के नाते वह सिंहासन के अधिकारी भी थे। 1888 में जन्मे राजा साहब ने बम्बई विश्वविद्यालय से बी० ए० की डिग्री ली और कानून की पढ़ाई के लिए लंदन चले गए। लंदन से पेरिस जाकर उन्होंने हीरों का व्यापार शुरू किया और वहीं के नागरिक भी हो गए। अपने व्यावसायिक जगत में भी उन्हें 'हीरों का राजकुमार' (पर्ल प्रिंस) कहा जाने लगा था।

भारत में अंग्रेज़ी साम्राज्य के कट्टर विरोधी राणा साहब अक्सर पेरिस में जन-सभाएं आयोजित करते और भारतीय स्वाधीनता समर के लिए दिल खोलकर सहायता देते थे। हरदयाल की जीवनी-लेखिका अमरीकी महिला एमिली सी० ब्राउन ने तो यहां तक कहा है कि श्यामजी कृष्ण वर्मा द्वारा प्रतिपादित छात्र-वृत्तियों का धन भी वास्तव में राणा साहब ही देते थे। याद रहे, इन्हीं में से एक

---

1. धनंजय कीर : 'वीर सावरकर एण्ड हिज़ टाइम्स,' पृ० 226.

गई और यहां के राजनैतिक ज्वालामुखी में कूद पड़ी। सावरकर के सम्पर्क में आते ही उसकी गतिविधियां और तेज़ हो गईं। लन्दन के हाइड पार्क में जाकर वह भारत की राजनैतिक दुरवस्था पर भाषण देती। साथ ही राष्ट्रप्रेम से ओत-प्रोत लेख छपवाकर जगह-जगह उनका वितरण करती। पेरिस से उसका चलाया एक पत्र 'वन्दे मातरम्' अमरीका व कनाडा में भी धड़ल्ले से बिकता था।

मई, 1908 में भारतीय स्वतन्त्रता-समर की स्वर्ण-जयन्ती के अवसर पर मदाम कामा ने जो ध्वजारोहण किया व भाषण दिया वह अविस्मरणीय रहेगा। इससे एक वर्ष पूर्व 22, अगस्त 1907 को जर्मनी के स्टटगार्ट नामक नगर में अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी कांग्रेस के अधिवेशन पर उनकी सिंह गर्जना पहले ही एक ऐतिहासिक घटना बन चुकी थी।

एम० पी० टी० आचार्य

तमिलभाषी, पत्रकार एवं देश-प्रेमी एम० पी० टी० आचार्य एक समय प्रसिद्ध कवि सुब्रह्मण्यम भारती के साथ उनके पत्र 'वन्दे मातरम्' में सहायक थे। भारती की गिरफ्तारी के बाद वह पांडिचेरी से भागकर लंका होते हुए लन्दन पहुंचे। यहां वह भी सावरकर से मिलते ही उनके चेले हो गए। लन्दन में ही सावरकर के सम्पर्क में आने वाले कुछेक व्यक्तियों में प्रमुख थे बम्बई के डब्ल्यू० पी० फड़के, मद्रास के टी० एस० राजन और के० वी० आर० स्वामी, बंगाल के सुखसागर दत्त व निरंजन पाल और साथ ही एम० पी० सिन्हा, कोरेगांवकर, होतीलाल वर्मा, हेमचन्द्रदास आदि आदि। यहां हम दो अन्य प्रमुख सहयोगी वी० वी० एस० अय्यर एवं मदनलाल धींगरा के नाम नहीं जोड़ रहे, उनका विस्तृत उल्लेख यथास्थान किया जाएगा।

मुस्लिम प्रशंसक

यह बात भी कुछ कम रोचक नहीं कि उस समय जर्मनी में रह रहे किन्हीं ज़ियाउद्दीन अहमद की निरन्तर चेतावनियों के बावजूद, कि लन्दन स्थित कोई भी भारतवासी मुस्लिम 'खतरनाक' इण्डिया हाउस के चक्कर में न पड़े, कितने ही भारतीय मुस्लिम स्वयं को सावरकर के मोहजाल से दूर न रख सके। इनमें विशेष उल्लेखनीय हैं नाभा रियासत के आर० एम० खान, मिर्ज़ा अब्बास, आसफ अली तथा सिकन्दर हयात खान। यह सभी नियमित रूप से इण्डिया हाउस आते और उसमें होने वाले सहभोजों व गोष्ठियों में बड़े जोश से हिस्सा लेते।

आर० एम० खान के विषय में हम अगले अध्याय में और विस्तार से जानेंगे। मिर्ज़ा अब्बास सावरकर द्वारा भेजी गई बहुत-सी ब्राउनिंग पिस्तौलें लेकर भारत आए थे। आसफ़ अली आगे चलकर बड़े बैरिस्टर बने तथा उन्होंने भगतसिंह,

बटुकेश्वरदत्त व बाद में आज़ाद हिन्द फौज के ऐतिहासिक मुकदमों में बचाव पक्ष के वकील का काम किया। देश-प्रेम से ओत-प्रोत इण्डिया हाउस और इसके मुखिया सावरकर के विषय में उन्होंने अपने संस्मरणों में लिखा है : "तूफान की तरह तेज़, पहाड़ी झरने की भांति विकल, मात्र 23 वर्षीय इस पुरुष को मैं जितनी बार भी देखता हूं, यही सोचता रह जाता हूं कि इस अल्पायु का यह युवक किस प्रकार, कितने लोगों के मन-मस्तिष्क पर छाया हुआ है।"

सिकन्दर हयात खां वही हैं जिन्हें बाद में 'सर' की उपाधि मिली और जो संयुक्त पंजाब के प्रधान मंत्री भी रहे। वह सावरकर को अपने साथ लेकर, भारतीय स्वतन्त्रता समर जैसी कई क्रान्तिकारी रचनाएं लेकर भारत आए। कहते हैं, 1940 में वे पंजाब में एक बार चुपके से 'तार वाले' का भेष बनाकर सावरकर से मिलने गए। यह पूछने पर कि "क्या तुमने मुझे पहचाना, मैं सिकन्दर हूं?" सावरकर ने हंस कर कहा—"क्यों नहीं, सिकन्दर को पहचानने में 'पोरस' भला कैसे भूल कर सकता है?"

मार्च 1942 में क्रिप्स के समक्ष इन दोनों की भेंट और भी मजेदार थी। उस समय सावरकर हिन्दू महासभा का प्रतिनिधित्व कर रहे थे और सिकन्दर हयात मुस्लिम लीग का। इस बार भी सावरकर ने उन्हें आड़े हाथों लिया। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में यह चेतावनी दी कि लीग तथा कांग्रेस द्वारा किया गया कोई भी समझौता, यदि वह हिन्दुओं के हित में न हुआ, तो हिन्दू महासभा को मान्य नहीं होगा। ऐसा होने पर कड़ा विरोध भी किया जाएगा। क्रिप्स को भी इसी प्रकार दिए गए मुंहतोड़ उत्तर को लेकर नेहरू जी के 'नेशनल हेराल्ड' ने एक सम्पादकीय में लिखा—"सावरकर ने क्रिप्स को जो मज़ा चखाया, वह उसे उम्र भर याद रहेगा।"

खिसियाकर जब क्रिप्स ने सावरकर से एक बार फिर मिलने की इच्छा व्यक्त की तो सावरकर ने इसे 'निरर्थक' कहकर मिलने से इन्कार कर दिया।

तो यह थे उस समय के सावरकर और इण्डिया हाउस में उनके साथ रहने वाला क्रान्तिकारी दल, जिसे ब्रिटिश गुप्तचरों ने 'चांडाल चौकड़ी', 'शैतान मंडली', 'ज्वालामुखी', 'तिलस्मी महल', 'शहद की मक्खी का छत्ता', 'शेर की मांद' आदि कितने ही उपनाम दे रखे थे।

इण्डिया हाउस में गांधी

अक्तूबर, 1906 में जब इण्डिया हाउस भारतीय क्रान्तिकारियों के आश्रम एवं राष्ट्रीय प्रशिक्षण का गुरुकुल बना हुआ था, तब गांधी भी 20 अक्तूबर को लन्दन गए थे। आरम्भ के दो एक दिन वह भी इण्डिया हाउस में ही ठहरे और सावरकर से मिले। दक्षिण अफ्रीका में गांधी अपने 'इण्डियन ओपीनियन'

नामक पत्र में प्राय: लन्दन में श्यामजी की गतिविधियों के विषय में लिखते रहते थे। इधर श्यामजी भी अपने 'इण्डियन सोश्यालॉजिस्ट' में अफ्रीका में गांधी के संघर्ष की चर्चा करते थे। हां, अपने जुलाई अंक में श्यामजी ने 'जूलू विद्रोह' के दमन में गांधी के कार्य की घोर अवहेलना की थी। इस बात पर सहज ही विश्वास किया जा सकता है कि लन्दन आकर गांधी का इण्डिया हाउस में ठहरने का एक कारण यह भी था कि वे श्यामजी के पास रहें और उनके ऊपर तेज़ी से चढ़ते हुए स्पेन्सर और सावरकर के रंग को उतार सकें।

पर पता नहीं क्यों, हर तरह की 'सुविधा और सत्कार'[1] के बावजूद वह इण्डिया हाउस में दो रातों से अधिक नहीं टिके। तीसरे ही दिन, बिना कोई कारण बताए गांधी ने अपना बोरिया-बिस्तर लपेटा। फिर किसी छोटी-मोटी जगह नहीं, वरन् उस आलीशान सेसिल होटल में चले गए जो उस समय का सबसे आधुनिक, विलासपूर्ण और समूचे यूरोप का सबसे शानदार होटल था।[2]

इतना ही नहीं, इस पंचतारा होटल में पांच सप्ताह रह कर (जिसके खर्च के विषय में सोचकर ही सिहरन होती है) गांधी ने होटल के सौन्दर्य कक्ष (ब्यूटी सैलून) में कई बार केश सज्जा भी कराई। सैलून वाले के सुझाव पर, कि इस सज्जा में एक विशेष प्रकार के महगे शैम्पू से बाल संवारने पड़ेगे, गांधी ने तुरन्त दो पौंड देकर वह शैम्पू भी मंगा डाला। बचे हुए शैम्पू की बोतल उन्होंने अफ्रीका में अपनी मेज़बान श्रीमती पोलक को भेंट कर दी। केश सज्जा और शैम्पू की यह घटना पोलक परिवार के लिए हंसने-हंसाने की स्थायी सामग्री बन गई।[3]

इन सब बातों का उल्लेख सर्वथा अप्रासंगिक नहीं। इनके विशेष कारण भी हैं। 1906 में जुलू दमन समाप्त होने के साथ ही गांधी 'फीनिक्स सैटलमेंट' में चले गए। यहां उन्होंने दो व्रत लिए। पहला, कि वह साधारण जीवन व्यतीत करेंगे और दूसरा, सदा ब्रह्मचर्य का पालन करेंगे। पहले व्रत के विषय में हमें इतना ही कहना है कि इंग्लैंड आते हुए उन्होंने जहाज़ की प्रथम श्रेणी में यात्रा की और जो भोजन किया, वह उस समय के अनुसार सबसे शानदार और महंगा था।[4] रही दूसरे व्रत की बात तो उसके लिए हम गांधी के उस पत्र का उल्लेख करना

---

1. धनंजय कीर : 'महात्मा गांधी : पोलिटिकल सेन्ट एन्ड अनआर्म्ड प्राफेट' पृ० 102.
2. जेम्स हंट : 'गांधी इन लन्दन', पृ० 233।
3. धनंजय कीर : 'महात्मा गांधी : पोलिटिकल सेन्ट एण्ड अनआर्म्ड प्राफेट' पृ० 106.
4. धनंजय कीर : 'महात्मा गांधी : पोलिटिकल सेन्ट एण्ड अनआर्म्ड प्राफेट' पृ० 102.

चाहेंगे जो उन्होंने 15 सितम्बर, 1919 को अपने अभिन्न सखा एवं निजी सचिव महादेव देसाई को लिखा था।[1] उस पत्र में स्पष्ट कहा गया है कि यद्यपि सारा संसार उनकी तपस्या और ब्रह्मचर्य का गुणगान करता रहा है पर वास्तविकता यह है कि वह 45 वर्ष तक अपने वैवाहिक जीवन का भरपूर आनन्द लेते रहे।

ऐसे व्यक्ति के ब्रह्मचर्य का भला क्या अर्थ, जो 15 वर्ष की आयु से ही यौन-लिप्त होकर अगले 30 वर्षों तक भी उसी में आसक्त रहे!

सेसिल होटल में ठहरने के बाद भी गांधी इंडिया हाऊस आते रहे। श्यामजी, सावरकर और उनके साथियों से उनकी तीन रविवारीय भेंटों का उल्लेख मिलता है। इन अवसरों पर छिड़ी चर्चा प्रायः लम्बी व गरमा-गरम होती। कारण स्पष्ट था, जहां गांधी अपनी अहिंसा व उदार दृष्टिकोण की चर्चा करते वहां सावरकर एवं श्यामजी की दलीलें ओजस्वी, क्रान्तिनिष्ठ एवं वैज्ञानिक दृष्टि-कोण पर आधारित होतीं। सम्भवतः इसीलिए लंदन से लौटकर गांधी ने अपने 'इंडियन ओपीनियन' में श्यामजी व उनके साथियों की देशभक्ति व कर्त्तव्यनिष्ठा की प्रशंसा तो की, पर इन लम्बी बहसों व चर्चाओं की बात एकदम छिपा गए।

कदाचित यह भी गांधी की विशेषता ही थी कि वह केवल वही बात, या बात का केवल वही अंश याद रखते जो उनके हित में होता। शेष सब उतनी सरलता से भुला देते, मानो कुछ हुआ ही न हो। उनका महान जीवन न जाने कितनी ही ऐसी मतलब की बातें याद रखने और प्यार से भूल जाने वाली घटनाओं से भरपूर है। एक और दृष्टांत लीजिए—

केवल एक वर्ष पूर्व, 1905 में गांधी ने जोहानीसबर्ग के एक मन्दिर में स्थानीय थियासाफीकल सोसाइटी के तत्वावधान में हिन्दुत्व पर एक भाषण माला दी। एक भाषण में उन्होंने कहा—"भारत में इस्लाम धर्म बलपूर्वक फैलाया गया, इसीलिए यहां अधिकांश मुस्लिम धर्मान्तरित व निम्न जाति के हैं।" उनके इस कथन पर मुसलमानों में भारी रोष फैल गया। अपनी बात सिद्ध करने के लिए गांधी के पास ऐतिहासिक तथ्य व तर्क होते हुए भी वह उनका प्रयोग नहीं कर पाए। जून 1905 में उन्होंने अपने इस कथन पर खेद व्यक्त किया। पर जब इतने से भी मुसलमान संतुष्ट नहीं हुए तो अप्रैल 1906 में दोबारा गांधी को अपने 'गलत शब्दों' के लिए हृदय से क्षमा याचना करनी पड़ी।[2]

सत्य का शस्त्र हाथ में लेकर भी उसके आग्रह से कतराने वाले महात्माजी को 'सत्याग्रह' का प्रतिपादक कहा जाता है। अपनी आत्मकथा 'सत्य के प्रयोग'

---

1. 'कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी', भाग 16, पृ० 146-47.
2. 'कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी', भाग 5, पृ० 299.

"पहले तो मुझे देखकर लोगों को थोड़ा आश्चर्य हुआ। फिर नानू (विपिनचन्द्र पाल के पुत्र निरंजन पाल) ने आगे बढ़कर मेरा स्वागत किया और विनायक दामोदर सावरकर नामक एक युवक से मेरा परिचय करवाया। छोटा कद, इकहरा शरीर, सवेगशील चेहरा, गालों की उभरी हुई हड्डियों पर विशाल ललाट वाले इस युवक का वर्ण कुछ हाथी दांत का पीलापन लिए हुए था। यहां से हम लोग भोजन-कक्ष में गए जहां सावरकर ने साथियों को पहले हिन्दी में सम्बोधित किया, फिर खड़े होकर ऊंचे स्वर में कुछ पढ़ने लगे। उसे देख मुझे लगा मानो उस कमरे में सर्वाधिक सजग संवेदनशील आकृति इसी व्यक्ति की थी। कुछ देर तक ध्यान से सुनते रहने के बाद मैंने पाया कि वह किसी भारतीय सैनिक तात्या टोपे के युद्ध-कौशल का वर्णन पढ़ रहे हैं, जिसे अंग्रेजों व सिखों ने मिलकर हराया था। बाद में मुझे ज्ञात हुआ कि वास्तव में यह '1857 का भारतीय स्वातन्त्र्य समर' नामक उसी बहुचर्चित पुस्तक का अंश था, जिसे कुछ ही महीनों बाद चोरी छिपे छपवाया गया था। अध्याय समाप्त होते ही अधिकांश श्रोतागण पास वाले कमरे में चले गए जहां किसी ने ग्रामोफोन पर एक भारतीय रिकार्ड लगा दिया; यह गीत था 'वन्दे मातरम्।"

इसी प्रकार 'संडे क्रानिकल' के पत्रकार कैम्पेल ग्रीन सावरकर से मिलने जब इंडिया हाउस पहुंचे तो उन्होंने अगले ही अंक में 'इंडिया हाउस' शीर्षक से ही अपने लेख में लिखा—"हो सकता है मेरी नज़र कमज़ोर हो, पर निश्चय ही यह एक 'रहस्यपूर्ण' भवन है जिसमें कृष्ण वर्मा की छाया सदा मंडराती रहती है। यहीं मुझे वी० डी० सावरकर से लम्बी सौहार्दपूर्ण भेंट का अवसर मिला। मुझे लगता है कि उसकी बात केवल कृष्ण वर्मा की ही नहीं, अन्य सभी भारतीय विद्यार्थियों का भी प्रतिनिधित्व करती है। मुझे विश्वास है, यह व्यक्ति सही दिशा पकड़ेगा और इसमें बहुत दूर तक जाएगा।"

एक तरह से यह भविष्यवाणी सच ही हुई। दिशा सही थी या नहीं, पर सावरकर ने जो राह पकड़ी उसमें वे सचमुच बहुत दूर तक गए और बहुत तेज़ भी। कानून की पढ़ाई के साथ सामाजिक एवं राजनैतिक गतिविधियां तो चल ही रही थीं। अब उन्होंने अपनी वेगपूर्ण लेखनी से भी काम लिया। लन्दन से लिखी उनकी चिट्ठियां,[1] कविताएं, हस्तपत्र व पुस्तकें जो भी आईं वे सभी एक से एक बढ़-चढ़कर थीं। सावरकर की बहुमुखी व्यस्तताओं का उल्लेख चित्रगुप्त ने इस प्रकार किया है[2]—

---

1. 1906 से 1910 के मध्य लन्दन से लिखे 43 पत्रों का एक संग्रह अब 'लन्दनची बातमीपत्रे' नाम से मराठी में उपलब्ध है।
2. 'लाइफ ऑफ बैरिस्टर सावरकर', पृ० 62.

"इंडिया हाउस में सावरकर की गतिविधियां सचमुच विलक्षण थीं। साप्ताहिक सभाओं व नित्यप्रति की चर्चाओं के अतिरिक्त उनका लिखना-पढ़ना भी बराबर बना रहा। वे अपने लेखों के क्रान्तिकारी अंशों को हस्तपुस्तिकाओं के रूप में छपवाकर हज़ारों लोगों के पास भेजते। उधर चुपके-चुपके बम बनाने की विधि का अध्ययन व प्रयोग भी करते रहते। मज़े की बात यह कि इन नाना प्रकार की व्यस्तताओं से उनके प्रकांड पांडित्य में कोई व्यवधान नहीं आया। यह सब कुछ करते हुए भी उन्होंने दो श्रेष्ठ शोधपूर्ण ऐतिहासिक ग्रन्थों की रचना की।" इन दो ग्रन्थों से चित्रगुप्त का आशय है, "मैज़िनी की आत्मकथा" व "भारतीय स्वातन्त्र्य-समर का इतिहास।"

मैज़िनी व गैरीबाल्डी

सावरकर के कट्टर समर्थक तथा प्रशंसक श्री विद्यासागर आनन्द लन्दन में ही लिखे और छपे "सावरकर चरित्र" में एक स्थान पर लिखते हैं[1] : "पता नहीं कब, किस क्षण, किसके जीवन में कोई ऐसी घटना घटित हो जाय, जिससे मात्र उसके जीवन में ही नहीं वरन् उसके सम्पूर्ण राष्ट्र में एक क्रान्तिमय परिवर्तन आ जाए। कहा जाता है कि पीडमॉन्ट के एक क्रान्तिकारी ने मैज़िनी से इटली के क्रान्तिकारियों के लिए कुछ दान मांगा और मैज़िनी ने उसी क्षण इटली की एकबद्धता व स्वतंत्रता के लिए अपना सर्वस्व समर्पित करने का संकल्प किया। आगे चलकर इटली का यही स्वतंत्रता सेनानी जोज़ेफ मैज़िनी (1805-72) और गैरीबाल्डी (1807-82) सावरकर के जीवनादर्श एवं प्रेरणास्रोत बने।"

मैज़िनी ने इटली को आस्ट्रिलया की दासता से मुक्त कराने के लिए संघर्ष किया और गैरीबाल्डी ने लोगों में राष्ट्रीय चेतना फूंककर उन्हें एक सूत्र में पिरोया। सावरकर के तन-मन पर छाए हुए मैज़िनी के प्रभाव का उल्लेख करन्दीकर ने इस प्रकार किया है[2] :

"वास्तव में इंग्लैंड जाने से बहुत पहले से ही मैज़िनी का जीवन-दर्शन सावरकर के मन-मस्तिष्क पर पूरी तरह से छा चुका था। लन्दन के उन्मुक्त वातावरण ने इन विचारों को और भी सुदृढ़ कर दिया। अथवा यों कहें कि देशभक्ति की जो चिनगारी वे भारत से लेकर चले थे, लन्दन में मैज़िनी के जीवनादर्शों ने उसे और भी भड़का दिया। इंडिया हाउस में दिए गए उनके सार्वजनिक भाषण इटली के इस कर्मठ देशभक्त की विचारधारा से ओत-प्रोत होते थे।"

और तो और, लन्दन में सावरकर की पहली पुस्तक भी "मैज़िनी की

1. 'ए स्टडी इन द इवॉल्यूशन ऑफ इंडियन नेश्नलिज़्म, पृ० 19.
2. 'सावरकर चरित्र', पृ० 133.

आत्मकथा" का मराठी रूपान्तर था। नासिक में छपी इस पुस्तक ने महाराष्ट्र भर में तहलका मचा दिया। लोकमान्य तिलक व एस० एम० परांजपे को समर्पित इस पुस्तक का प्रकाशन भार उनके बड़े भाई बाबाराव सावरकर ने सम्भाला। कहते हैं कि पहले सप्ताह में ही इसकी हजारों प्रतियां बिक गई। देश की लगभग सभी प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं ने इस पुस्तक के अंश उद्धृत किए व अग्रलेखों में इसकी समीक्षा हुई। चित्रगुप्त के शब्दों में—"शिक्षक अपने विद्यार्थियों से व माता-पिता अपने बच्चों से इस पुस्तक के पहले 25 पृष्ठों के प्राक्कथन को कंठस्थ करने का परामर्श देते थे।" प्रस्तुत हैं इन्हीं पृष्ठों के कुछ अंश :

"····नहीं, नहीं, राष्ट्र कदापि नहीं मरता। परमात्मा ने मानव को स्वतन्त्र रहने के लिए ही उत्पन्न किया है। यह तथ्य सुनिश्चित समझो कि जब दृढ़ संकल्प कर लोगे, तभी तुम्हारा देश भी स्वतंत्र हो जाएगा। इससे अधिक उत्साहवर्धक राष्ट्र-मंत्र और क्या हो सकता है।"

····"धर्म, राजनीति का पोषक मात्र ही नहीं है, अपितु उसी के पावन सिद्धान्तों पर राजनीति-शास्त्र का निर्माण हुआ है। धर्म ही राजनीति-शास्त्र की आधारशिला है। इसके बिना राजनीति-शास्त्र का कोई अस्तित्व ही नहीं है। समाज, स्वदेश और स्वराष्ट्र को दासता की श्रृंखलाओं से मुक्त कराना और इसका संवर्द्धन ही राजनीति है। राजनीति जब धर्म पर अधिष्ठित होगी तभी वह पावन है और जब धर्म का राजनीति से सम्बन्ध होगा तभी वह धर्म पवित्र है।"[1]

वैलेन्टाइन किरोल जैसे इंडिया हाउस के कटु आलोचक ने भी सावरकर की इस पुस्तक को सबसे अधिक लोकप्रिय राष्ट्रीय ग्रन्थ[2] कहा है।

नासिक व पूना जैसे नगरों में इस पुस्तक का ऐतिहासिक अभिनन्दन हुआ। मखमल के वस्त्र में लपेटकर इसे छोटी सुसज्जित पालकी में रखकर किसी पवित्र एवं पूज्य पुस्तक की तरह नगर में इसकी शोभा-यात्रा निकाली गई, ठीक वैसे ही जैसे सिख भाई ग्रंथ साहब को आदर के साथ ले जाते हैं।

गुरु ग्रंथ साहब का उल्लेख आते ही सावरकर के व्यक्तित्व का एक बिलकुल अनोखा पक्ष उजागर होता है—सिख गुरुओं और उनके बलिदान के प्रति उनकी असीम श्रद्धा। लन्दन में पंजाबी सहयोगी हरनाम सिंह, भाई परमानन्द और मदन लाल धींगरा की सहायता से उन्होंने गुरुमुखी सीखी और सभी गौरव ग्रन्थों का भली-भांति अध्ययन भी किया, जैसे 'आदि ग्रन्थ', 'पंथ प्रकाश', 'सूर्य प्रकाश', 'विचित्र नाटक' इत्यादि। सिख संस्कृति के विषय पर उन्होंने कई हस्तपत्र भी वितरित किए। इनमें से 'खालसा' शीर्षक पत्रक ने, जो गुरुमुखी में ही था, सिख

1. 'क्रान्ति के नक्षत्र', प्रकाशक, राजधानी ग्रन्थागार, पृ० 142-144.
2. 'इंडियन अनरेस्ट', पृ० 146.

जगत में, विशेषकर भारतीय सिख सैनिकों में हलचल मचा दी। इस पत्रक में सावरकर ने उन्हें उनकी 1857 की भूल को सुधारने के लिए नये उत्साह व शक्ति से स्वाधीनता संघर्ष में जुट जाने का आह्वान किया था। 'सिखों का इतिहास' शीर्षक से उन्होंने एक अन्य पुस्तक लिखनी आरम्भ की, जिसे पूरा होने में चार वर्ष लगे। 1906-07 के बीच आरम्भ की गई यह पुस्तक अन्ततः 1910 में पेरिस में पूरी हुई।

दुर्भाग्यवश इस पुस्तक का आज कोई भी अंश उपलब्ध नहीं है। या तो इसे फिरंगियों ने झपट्टा मारकर हथिया लिया या जैसा कहा जाता है कि पुस्तक को साथ लाते हुए, अंग्रेज़ गुप्तचरों की निरन्तर पीछा करती परछाइयों से घबराकर किसी भारतीय ने इसे समुद्र में फेंक दिया। सावरकर ने स्वयं भी हंसी में इसे 'ओम समुद्राय नमः' अर्थात् वरुण देवता को समर्पित कहा है।

मैज़िनी के जीवन चरित्र की इस धुआंधार लोकप्रियता से अंग्रेज़ सरकार घबरा गई। उसने न जाने कहां-कहां से इसकी प्रतियां ढूंढ़ निकालीं और नष्ट कर दीं। फिर भी अंग्रेज़ यह बात नहीं समझ पाए कि जितनी निर्ममता से किसी बात का दमन किया जाता है, विशेषकर पुस्तक का, उतनी ही वह अधिक चर्चित होती है। मात्र कौतूहलवश ही सही, लोग उसे अधिक सहेज कर रखना चाहते हैं। ठीक यही इस पुस्तक के साथ भी हुआ। हज़ारों प्रतियां नष्ट किये जाने के बावजूद इसकी सैकड़ों प्रतियां सुरक्षित रहीं।

मैज़िनी, सावरकर, गैरीबाल्डी

मैज़िनी और सावरकर दोनों को अपने-अपने देश में "प्रिंस अमंग पैट्रियाट्स" अर्थात् अप्रतिम देशभक्त की उपाधि दी गई है। इन दोनों के जीवन में, और काफी हद तक इन दोनों और गैरीबाल्डी के जीवन में भी अद्भुत साम्य दिखाई देता है।

मध्यवर्गीय परिवारों में जन्मे दोनों ही कानून की शिक्षा के लिए गए थे। अपने अध्ययन काल में उन्होंने देशभक्तों की एक जांबाज़ टोली तैयार की थी। सावरकर का 'अभिनव-भारत' निश्चित ही मैज़िनी के 'यंग इटली' से ही प्रेरित था। दोनों के जीवन का उद्देश्य था—विदेशी सत्ता के विरुद्ध सशस्त्र क्रान्ति तथा मातृभूमि की मुक्ति। इस अटूट राष्ट्रप्रेम के लिए दोनों को ही बन्दी बनाकर देश निकाला दिया गया। मैज़िनी को भेजा गया मार्सेल्स—वही स्थान जो कालान्तर की ऐतिहासिक छलांग के बाद उन्हीं के नाम का पर्याय बन गया है, और सावरकर को भेजा गया अंडमान। बंदी जीवन में भी कठोर नियन्त्रण एवं घोर यंत्रणाओं के बावजूद दोनों ही अपने-अपने उदात्त विचारों का प्रचार करते रहे। लेखक के रूप में भी दोनों पूरी तरह से समाज और राष्ट्र को समर्पित थे। इसीलिए जो

कुछ उन्होंने लिखा उसका प्रमुख उद्देश्य था अपने देशवासियों में राष्ट्रीय चेतना का संचार और स्वतंत्रता संघर्ष में जुट जाने का आह्वान।

नियति की दृष्टि से दोनों में भारी अन्तर जरूर रहा। जहां मैज़िनी को अपने संघर्ष का पर्याप्त पुरस्कार मिला, चाहे कुछ ही समय के लिए सही, वहीं सावरकर को कभी कुछ नहीं मिला। निरन्तर नियति द्वारा छला गया यह श्रापित ऋषि[1] विधना के 'काव्योचित न्याय' से वंचित रहा। सावरकर की जन्म-तिथि 28 मई के 12 दिन बाद 10 जून को जन्मे मैज़िनी का निधन भी 26 फरवरी को सावरकर के आत्मार्पण के ठीक 12 दिन बाद 20 मार्च को हुआ।

सावरकर और मैज़िनी की भांति गैरीबाल्डी भी कट्टर देशभक्त, स्वतंत्रता सेनानी और गुरिल्ला युद्ध का समर्थक था। मैज़िनी के 'यंग इटली' के इस सक्रिय सदस्य को भी विदेशी सत्ता ने देश से निष्कासित कर अमरीका भेज दिया। अपनी आत्मकथा जैसी राष्ट्र-प्रेम से ओत-प्रोत अनेक ओजस्वी रचनाओं का लेखक गैरीबाल्डी 2 जून, 1882 को सावरकर के जन्म से लगभग एक वर्ष पूर्व अमर हो गया।

पुनर्जन्म और परकाय प्रवेश के भारतीय सिद्धान्त में आस्था रखने वालों के लिए मैज़िनी, गैरीबाल्डी और सावरकर के जन्म-मरण का यह अद्भुत साम्य शोध का रोचक विषय बन सकता है। विषय की रोचकता इस बात से और भी बढ़ जाती है कि गैरीबाल्डी की अन्तिम इच्छा यही थी कि मृत्यु के बाद उसका भारतीय पद्धति के अनुसार दाह-संस्कार किया जाए। 17 सितम्बर, 1881 को अपने हस्ताक्षरयुक्त 'इच्छा पत्र' में उसने लिखा कि उसके शरीर का दाह-संस्कार किया जाए और वह भी किसी दाह-शाला में नहीं, वरन् खुले स्थान पर। उसकी अस्थियों को उसकी पत्नी अनिता और बेटी रोज़ा की समाधि पर सजा दिया जाय।

परन्तु उसकी यह अन्तिम इच्छा भी पूरी नहीं की गई। 8 जून को कंपरीरा में दोनों सदनों के अध्यक्षों, जल व थल सेना के प्रमुख सैनिक अधिकारियों व

1. 10 मई, 1957 को सावरकर 1857 की क्रान्ति की शताब्दी के अवसर पर दिल्ली आए, और 12 मई को रामलीला मैदान में एक ऐतिहासिक भाषण दिया। अगले दिन जब नगर के कुछ गणमान्य व्यक्ति जनपथ होटल में उनका आशीर्वाद लेने गए तो वह बोले—"भाई, मेरा जन्म तो भगूर में हुआ है जो स्वयं श्रापित भृगु ऋषि का स्थान है, उन्हीं का एक अंश मेरे भाग्य में भी आ गया है। वहां से मैं नासिक आया, सो वह भी राम की वनवासस्थली निकली। मैं भला तुम्हें क्या आशीर्वाद दूंगा ? मेरे निकट आने से तुम्हें केवल उपेक्षा, उलाहना, तिरस्कार व अवहेलना ही मिलेगी।'

हज़ारों नागरिकों के समक्ष उसे दफन कर दिया गया गया। कहते हैं, उस दिन मौसम बहुत सुहावना होते हुए भी संस्कार के बीच अचानक भयंकर तूफान आया। लोगों को लगा कि यह मृत व्यक्ति की अन्तिम इच्छा के अनादर के विरुद्ध प्रकृति का प्रकोप है। इससे भी भयंकर घटना मांटीवीडियो में हुई, जहां श्रद्धांजलि समारोह भवन में ऐसी प्रचंड आग लगी कि 27 व्यक्ति वहीं जलकर राख हो गए।

अन्त में

कभी-कभी सोचता हूं कि इटली से भारत आने वाले हज़ारों पर्यटकों, बुद्धिजीवियों, कवियों, इतिहासकारों और राजनीतिज्ञों में कितने लोग इसकी परवाह करते हैं कि भगूर, नासिक, पूना, रत्नगिरि या बम्बई जाकर उन पुण्य स्थलों को देखें जहां उनके दो महान देशभक्तों का महान चरित्र-नायक, अनुयायी, समर्थक एवं प्रवर्तक जन्मा, पला, बढ़ा और रहा —कदाचित् एक भी नहीं।

31 दिसम्बर, 1981 को इन पंक्तियों का लेखक पोर्ट ब्लेअर की सेल्युलर जेल में सावरकर-कक्ष के दर्शन करने गया था। वहां एक इतालवी परिवार भी पहुंचा हुआ था, जो सम्भवत: श्रीमती सोनिया गांधी से सम्बन्धित था। सावरकर के विषय में उनकी अनभिज्ञता इस बात से ही स्पष्ट थी कि उस एकाध घंटे में, जो उन्होंने जेल देखने में बिताया, कोई भी सावरकर-कक्ष की ओर नहीं गया, जबकि अब उस कक्ष के सामने सावरकर के विषय में एक सूचना पट्ट भी लटका दिया गया है।

इसके विपरीत नवम्बर 1982 में इस पुस्तक के लिए शोध-सामग्री जुटाने जब मैं लन्दन में था तो वहां के कई भारतीय मित्रों ने बताया कि मिलान नगर के एक प्रसिद्ध इतालवी इतिहासकार श्री एनरिको फज़ाना प्राय: लन्दन आते हैं और उन तमाम व्यक्तियों से सम्पर्क करते हैं जो किसी भी रूप में सावरकर से सम्बद्ध थे। वह स्वयं जिस शोध-कार्य में लगे हैं, उसका विषय है—"बीसवीं शती के प्रथम दशक में लन्दन स्थित भारतीय क्रान्तिकारियों, विशेषकर सावरकर, पर मैज़िनी और गैरीबाल्डी का प्रभाव।"

1907

भारतीय स्वातंत्र्य समर की स्वर्ण जयन्ती

पहली मई को आमतौर से 'मई दिवस' भी कहा जाता है। इस दिन समूचे विश्व में 'मज़दूर दिवस' मनाया जाता है। रूस एवं अन्य साम्यवादी देशों में तो इसका बड़ा राष्ट्रीय महत्त्व है। इस दिन यहां भव्य शोभा यात्राएं निकाली जाती हैं और मज़दूरों के जलसे-जुलूस होते हैं। यूरोप में, विशेषकर इंग्लैंड में, यह दिन वसन्तागमन का प्रतीक माना जाता है। स्थान-स्थान पर रंगारंग सांस्कृतिक कार्यक्रम, लोकनृत्य एवं सौन्दर्य प्रतियोगिताएं होती हैं। सन् 1857 की विफल क्रान्ति के बाद लन्दन में यह दिन भारतीय क्रान्तिकारियों पर इंग्लैंड की महान विजय के रूप में भी मनाया जाने लगा था।

पर 1907 की पहली मई मानो कुछ अलग ही रंग लेकर आई। तब अंग्रेजों के एक विशिष्ट वर्ग ने यह दिन तथाकथित 'गदर' के पचास वर्ष पूरे होने पर 'भारतीय विप्लवियों पर अंग्रेज़ों की महान विजय' के रूप में 'विशेष धन्यवाद दिवस' के तौर पर मनाने का निश्चय किया। न केवल लन्दन की प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में, वरन् भारत में भी, अंग्रेज़भक्त समाचार पत्रों में मानो एक से एक सजधज के साथ 'विजय-विशेषांक' निकालने की होड़ लग गई। इनमें छपे लेख-अग्रलेख व अन्य स्तम्भों ने पत्रकारिता के नैतिक मूल्यों व मापदण्डों को जैसे ताक पर रख दिया। इनमें से अधिकांश में जान-बूझकर भारतीय क्रान्ति के सेनानियों व शहीदों की खिल्ली उड़ाई गई। कइयों ने तो उन्हें 'लुटेरा' और 'हत्यारा' की संज्ञा दे डाली।

6 मई को लन्दन के प्रमुख दैनिक 'डेली टेलीग्राफ' ने अपनी सुर्खी में कहा—

पचास वर्ष पूर्व इसी सप्ताह
हमने वीरतापूर्वक अपने साम्राज्य की रक्षा की।

लगभग पूरे सप्ताह भारत में अंग्रेजी शासन की आवश्यकता व सार्थकता के समर्थन में चर्चाएं व गोष्ठियां होती रहीं। सप्ताहांत तक तो यह स्थिति पराकाष्ठा पर पहुंच गई, यहां तक कि कई स्थानों पर अश्लील नाटक भी खेले गए। इन्हीं में से एक में, जो विशेष रूप से जल-थल सेना के 'खेल-कूद समारोह' के लिए तैयार किया गया था, दिल्ली के कश्मीरी गेट पर हुए भारतीय हमले को अत्यन्त विकृत रूप में प्रदर्शित किया गया। खुले मैदान में खेले गए एक अन्य नाटक में भी 'गदर'

की कुछ झलकियां प्रस्तुत की गईं, जिनमें तात्या टोपे, नाना साहब व रानी झांसी जैसे शूरवीरों को लुच्चे-लफंगों और डाकुओं के रूप में दिखाया गया।

ओछे, छिछले, छीछालेदर से सने इन सिरफिरे फिरंगियों को कदाचित् तनिक भी भान नहीं था कि यह सब कुछ करके वे अपने ही लिए मुसीबत के बीज बो रहे हैं। अपमान और व्यंग्य का एक-एक शब्द इंडिया हाउस नामक मधुमक्खी के छत्ते में पत्थर की चोट करता रहा जहां हर व्यक्ति कौटिल्य की इस कूटनीति का समर्थक था कि साम, दाम, दण्ड अथवा भेद जैसे भी हो, दुश्मन का दमन करो।

चरित्र-हनन का यह घिनौना स्वांग सप्ताह के साथ ही समाप्त हो गया। और फिर? फिर, जैसे इस स्वर्ण जयन्ती समारोह के सफल समापन पर गद्गद ये लन्दनवासी अपनी नियमित दिनचर्या पर लौट गए, एक शराबखाने से दूसरे शराबखाने में भटकना, थोड़ी यहां, थोड़ी वहां पीकर बहकना, फिर धुत होकर नशे की अकड़ में यह देखना कि उसकी गर्दन अधिक तनी है या बोतल की।

अब बारी आई इंडिया हाउस की। वैसे, उस समय भी, जब ये अंग्रेज़ अपने आलोचना-उत्सव में रत थे, वहां का वह नक्षत्र-मंडल चुपचाप हाथ पर हाथ रख-कर मात्र स्वप्नलोक में ही नहीं विचर रहा था। हर तरह से चौकन्ने होकर वे बस अवसर की तलाश में थे। 10 मई को[1] वह दिन भी आ गया। प्रतिशोध के इस महानाटक की पटकथा, संवाद, पात्रचयन, अभिनय आदि सब कुछ पूर्व निश्चित थे। देर थी तो बस, पर्दा उठने की।

नाटक का श्रीगणेश हुआ एक सभा से, जिसका आयोजन इंडिया हाउस में ही क्रान्ति की स्वर्ण-जयन्ती मनाने के लिए किया गया था। भवन को अत्यन्त सुरुचिपूर्ण ढंग से फूलों-बंदनवारों एवं तोरणद्वारों से सजाया गया। मंच पर क्रान्ति के योद्धाओं, हुतात्माओं के आदमकद चित्र रखे थे। इंडिया हाउस मानो पूरे भारत की झांकी बन गया था। योरप के कोने-कोने से आए 200 से भी अधिक भारतीयों ने इस समारोह में भाग लिया। स्वयं सावरकर ने इस समारोह का वर्णन इस प्रकार किया है[2] :

"बरतानिया में रहने वाले भारतीयों का इतना सुन्दर समारोह पहले कभी नहीं हुआ। बहुत दिनों से लोग इस समारोह की प्रतीक्षा कर रहे थे। मई के प्रारम्भ से ही गली-गली में जाकर हर भारतीय को तैयार किया गया कि वे इस सभा में आएं। कार्यक्रम तथा समारोह के ब्यौरे प्रस्तुत किए गए। कार्यकर्ता चुने गए। प्रचारक जा-जाकर हर भारतीय को 1857 का महत्त्व समझाते। धीरे-धीरे लन्दन के सारे भारतीयों का जोश भड़क उठा। अन्त में 10 मई को इंडिया

1. मेरठ में इसी दिन सन् 1857 की क्रांति छिड़ी थी।
2. मन्मथनाथ गुप्त : 'भारत के क्रान्तिकारी', पृ० 44-45.

हाउस के आस-पास भारतीय ही भारतीय दिखाई देने लगे। असल में यह समारोह तो एक बहाना था जिसकी आड़ में तरुण क्रान्तिकारी भावी क्रान्ति का प्रचार करना चाहते थे। इंडिया हाउस रोशनियों और फूलों से सजाया गया। लाल पर्दों पर फूल मालाएं व झंडियां लगाई गईं। स्वर्णाक्षरों तथा दूसरे रंगों में भी बहादुरशाह, नाना साहब, रानी लक्ष्मीबाई, राजा कुंवर सिंह व मौलवी अहमद-शाह के नाम लिखे गए। कुछ अन्य भारतीय देशभक्तों के चित्र भी टांगे गए। फूलों और धूप-दीप के कारण एक मन्दिर का-सा वातावरण बन गया था, जिसमें लन्दनवासी भारतीयों को स्वत: ही भारत माता की याद आ गई।

"समारोह का आरम्भ राष्ट्रीय गान से हुआ। बड़े ज़ोरों से 'वन्दे मातरम्' के नारे लगाए गए जो इंडिया हाउस की दीवारों से गूंजकर आसपास की सड़कों तक फैल गए। साढ़े चार बजे समारोह के अध्यक्ष राणा साहब, जो उन दिनों पेरिस में रह रहे थे, कुछ नेताओं के साथ पधारे। वे अपने साथ मदाम कामा का एक बहुत उत्साहवर्द्धक संदेश भी लेकर आए थे।

'राष्ट्रीय गान के बाद श्री अय्यर ने राष्ट्रीय प्रार्थना की आवृत्ति की। इंडिया हाउस खचाखच भर गया था। बहुत से लोगों को बैठने की जगह न मिल पाने के कारण खड़े रहना पड़ा।"

सावरकर ने स्वयं मंच पर आकर ओजस्वी व्याख्यान दिया। इस क्रान्ति को अंग्रेज़ों द्वारा 'गदर' की शरारत-पूर्ण संज्ञा दिए जाने को आड़े हाथों लेते हुए सावरकर ने इसे 'भारत का प्रथम स्वतंत्रता समर' कहकर पुनर्परिभाषित किया। रानी लक्ष्मीबाई, मंगल पांडे, नानाजी, तात्या टोपे, कुंवरसिंह, मौलाना अहमद साहब, अज़ीमुल्ला खां, बहादुरशाह आदि क्रान्तिरत्नों को भावभीनी श्रद्धांजलि अर्पित की गई। अन्य व्याख्यानों के बाद श्रोताओं ने भारतीय स्वतंत्रता के लिए त्याग करने व कष्ट झेलने की प्रतिज्ञा की। उपस्थित छात्रों ने हाथ में टोपी लेकर चन्दा एकत्रित किया, जिसमें लोगों ने दिल खोलकर दान दिया। अन्त में 1857 की स्मृति में चपातियां[1] व प्रसाद बांटा गया।

अगले दिन भी कई स्थानों पर सभाएं हुईं। इनमें से एक थी 'तिलक भवन' में। 78, गोल्डस्मिथ एवेन्यू, एक्टन पर स्थित यह स्थान भी असंतुष्ट भारतीयों का गढ़ था। इस अवसर पर छपे निमंत्रण पत्र का आलेख आज भी उपलब्ध है।[2]

---

1. 1857 की क्रान्ति से सम्बद्ध इस अवसर पर चपातियों के बांटे जाने का एक प्रतीकात्मक अर्थ था। ये क्रान्तिकारी देश में एक स्थान से दूसरे स्थान तक चपातियों व कमल के फूल द्वारा ही अपनी क्रान्ति का गुप्त संदेश दिया करते थे। सावरकर ने अपनी पुस्तक 'स्वातंत्र्य समर' में इसकी विस्तृत चर्चा की है।
2. मुकुन्द सोनपतकी : 'दर्या पार' (मराठी), पृ० 11.

"1857 के राष्ट्रीय उत्कर्ष की स्वर्ण जयंती के सुअवसर पर 'फ्री इंडिया लीग' के तत्त्वावधान में शनिवार 11 मई को 'स्वतंत्रता की घोषणा' के दिवस पर एक समारोह का आयोजन किया गया है।"

इन्हीं दिनों धन देवी नामक पंजाब की एक संभ्रान्त महिला ने, जो लन्दन में ही थीं, देशभक्ति का प्रमाण देनेवाले भारतीय युवकों को कुछ पुरस्कार देने व 'यारे-हिन्द' की उपाधि से विभूषित करने की घोषणा की। घोषणा में जहां एक ओर चुनौती थी, वहीं दूसरी ओर आकर्षण भी था। फलस्वरूप कई निडर नवयुवकों ने इसे पाने का बीड़ा उठाया। अगले दिन आक्सफोर्ड और कैम्ब्रिज विश्वविद्यालयों में पढ़ने वाले भारतीय छात्र जब अपनी-अपनी कक्षाओं में गए तो उनकी बाजुओं पर तिल्ले-ज़री से कढ़े कामदार बिल्ले टंके हुए थे, जिन पर सुन्दर अक्षरों में अंकित था : 1857 के वीर अमर रहें।

इस मुंह-तोड़ जवाबी कार्रवाई से अंग्रेज़ बौखला उठे। बसों, रेलों में यात्रा करते हुए इन विद्यार्थियों की अंग्रेज यात्रियों के साथ तू-तू मैं-मैं हुई। कई स्थानों पर अंग्रेज़ सिपाहियों के साथ झड़पें हुईं। कुछ कालेजों में मार-पीट की नौबत आ गई। इन्जीनियरिंग के एक विद्यार्थी मदनलाल धींगरा ने यह बिल्ला अपने नए काट के सूट पर तमगे की तरह सजाया। इसे लेकर उसकी कई अंग्रेज़ विद्यार्थियों के साथ हाथापाई हो गई।

"ये लोग...और देशभक्त...छी...छी...!" एक अंग्रेज़ प्रोफेसर ने हिकारत से हरनाम के तमगे की ओर देखते हुए उसका उपहास किया, "ये तो लुटेरे और देशद्रोही थे। इस बिल्ले को उतार फेंको।"

"जी नहीं", हरनाम का दो टूक उत्तर था। "हमारे यहां, और शायद विश्व में हर कहीं, देश पर मरने वालों को देशभक्त ही कहा जाता है...आपके यहां इन्हें देशद्रोही कहा जाता हो तो और बात है।"

"बकवास बन्द करो!" प्रोफेसर गुस्से में चीखा। हरनाम सिंह चुप तो हो गया पर उसने बिल्ला नहीं उतारा। परिणामस्वरूप उसे कक्षा से निकाल दिया गया, और बाद में कॉलेज स भी। पंजाब ही के नाभा रियासत के एक अन्य जोशीले युवक आर० एम० खान के साथ भी यही हुआ। कई अन्य विद्यार्थियों को भी अपनी छात्रवृत्ति गंवानी पड़ी और इंग्लैंड छोड़कर स्वदेश लौटना पड़ा। पर, दूसरी ओर कुछेक भारतीय ऐसे दब्बू भी निकले जो अपने कमरों में ही मुंह छिपाये, दुम दबाये चुपचाप इन घटनाओं को दूर से ही देखते रहे। जीवनी लेखक कीर ने ऐसे ऐयाश कायरों को "अंग्रेज़ दाइयों की छाती से चिपके दुधमुंहे पिल्ले" कहकर लांछित किया है। वास्तव में इन भारतीयों का लक्ष्य न तो ज्ञान प्राप्त करना था और न ही अपने साथियों को संगठित करना। उनका तो एकमात्र उद्देश्य था, भारत लौटकर अच्छी-से-अच्छी नौकरी प्राप्त करना। विलायत जाना

ब्रिटिश शासकों की आंखों में एक बहुत बड़ी योग्यता थी। वहां से कोई डिग्री या डिप्लोमा लेकर आना तो और भी ऊंची बात समझी जाती थी।

पर कैसी क्रूर विडम्बना है कि जब देश स्वतंत्र हुआ तो इन्हीं दब्बुओं और पिछलग्गुओं को राष्ट्र के सर्वोच्च पदों पर आसीन किया गया। आज भी इन्हीं को भारत के स्वाधीनता संघर्ष की अग्रिम पंक्ति का सरदार कहा जाता है। और वे, जिनका ओढ़ना-बिछाना व जीना-मरना सब कुछ स्वदेश व उसकी स्वाधीनता ही था और जिन्होंने हंसते-हंसते केवल अपना ही नहीं, अपना सर्वस्व ही देश के लिए होम दिया, उनका नाम इतिहास के पन्नों पर 'फुटनोट' में भी नहीं मिलता।

बाद में, इन्हीं राजभक्त भारतीयों की कैक्सटन हाल में एक सभा हुई जिसमें इंडिया हाउस व अन्य स्थानों पर हुए क्रान्तिकारी कार्यक्रमों पर दुख प्रकट किया गया, यद्यपि कोई प्रस्ताव पारित नहीं हो पाया। जो भी कुछ बोलने के लिए उठता, उसको शोर मचाकर बैठा दिया जाता। भारतीयों के साथ इस सभा में कुछ ऐसे अंग्रेज़ भी थे जो स्वयं को भारतीयों का मित्र बताते थे, पर यहां उनकी बात भी नहीं सुनी गई। जब यह सभा बिना कोई प्रस्ताव पास किए ही समाप्त हो गई, तो यह बात और भी स्पष्ट हो गई कि इंग्लैंड में अधिकांश भारतीय युवक किसके साथ हैं। पर ये लोग अब खुफिया पुलिस की निगाह में जरूर आ गए।

ब्रिटिश समाचार जगत में भी इन घटनाओं से काफी हलचल मची। 'द टाइम्स' व 'जॉन बुल' जैसे पत्रों ने अपने विशेष प्रतिनिधियों को इस समस्त कांड के सरगना सावरकर से भेंटवार्ता के लिए भेजा। पर जिस प्रकार के सावरकर की पूर्व कल्पना लेकर वे इंडिया हाउस गए, वह सावरकर से मिलते ही खंडित हो गई। सावरकर के क्रान्तिकारी कार्य-कलाप को लेकर जो छवि उनके मन पर अंकित थी, उसके अनुरूप इस व्यक्ति को हट्टाकट्टा, दाढ़ी मूछ बढ़ाए, खौफनाक चेहरे, गरजती आवाज़ और दहकती आंखोंवाला गुस्सैल पुरुष होना चाहिए था। पर वे जिस सावरकर से मिले, वह एक मोहक आकृति, मधुर स्वर और सुसंस्कृत सुशील युवक निकला।

"तार की भांति छरहरे इस शरीर में बिजली की-सी कौंध है"—ए वायरी बॉडी विद ए फायरी सोल—'द टाइम्स' के संवाददाता ने उनके विषय में लिखा। 'जॉन बुल' के पत्रकार ने इस व्यक्ति के ललाट पर एक विचित्र 'ओजस्विता की आभा' देखी। 'मैनचेस्टर गार्जियन' ने उसे 'ऐसे समर्पित व्यक्तित्त्व' की संज्ञा दी 'जिसके समक्ष कोई भी शिथिल पड़ सकता है।' 'द डेली न्यूज' के संवाददाता ने यद्यपि सावरकर की विचारधारा की कड़ी आलोचना की, फिर भी वह उनके 'खनकते स्वर' से प्रभावित हुए बिना न रह सका।

पत्रों की इन टिप्पणियों से ब्रिटिश गुप्तचर विभाग और भी चौकन्ना हो

गया। यह अलग बात है कि सावरकर को जब इन गिद्ध निगाहों के बारे में सावधान किया गया तो उन्होंने चुटकी लेते हुए कहा—

"यदि इन लोगों के स्वास्थ्य के लिए इंडिया हाउस की जलवायु ही श्रेयस्कर है तो ऐसा ही सही।"

श्यामजी का पेरिस गमन

धीरे-धीरे ब्रिटिश समाचार पत्रों में आलोचना तीव्र से तीव्रतर होती गई और इसका निशाना बने इंडिया हाउस के प्रमुख संचालक श्यामजी कृष्ण वर्मा। पर श्यामजी भी तेज़ी से बदलती परिस्थितियों से पूरी तरह सतर्क थे। नयी 'फ्री इंडिया सोसाइटी' की उभरती हुई लोकप्रियता को देख उन्होंने भी अपनी रणनीति में संशोधन किया। नयी छात्रवृत्तियों में धन लगाने की अपेक्षा उन्होंने नये भारतीय राजनैतिक संगठनों को प्रोत्साहित करने की योजना बनाई। तदनुसार 23 फरवरी, 1907 को लन्दन में हुए 'होमरूल सोसाइटी' के वार्षिक अधिवेशन में उन्होंने ऐसे संगठनों की स्थापना एवं संचालन के लिए दस हज़ार रुपये के अनुदान की घोषणा की। इसके लिए उन्होंने उस समय की ओजस्वी त्रिमूर्ति, बाल, पाल, लाल (बाल गंगाधर तिलक, विपिनचन्द्र पाल, लाला लाजपत राय) से भी सम्पर्क स्थापित किया। तीनों के ही उत्तर सहमतिपूर्ण एवं उत्साहवर्धक थे। 'इंडियन सोश्यालाजिस्ट' के मई अंक में उन्होंने इस पत्र व्यवहार के कई महत्त्वपूर्ण अंश प्रकाशित भी किए।

पर जिस लेख ने सबसे अधिक हलचल मचाई वह था लाला हरदयाल का हृदय झकझोर देने वाला एक लेख[1] जिसमें उन्होंने कई ज्वलंत प्रश्न उठाए थे। लेख का सार इस प्रकार है—

"राजनैतिक संगठनों एवं संस्थाओं के संस्थापन व संचालन की योजना निःसंदेह प्रशंसनीय प्रयास है। पर प्रश्न यह उठता है कि इन संस्थाओं के संचालन के लिए हमें किस प्रकार के व्यक्ति चाहिए? मेरे विचार में ये व्यक्ति इतने समर्पित एवं कर्मठ होने चाहिए कि उनका बन्धु-सखा, माता-पिता सब कुछ भारत माता ही हो, जिनको विनम्र कायरता से कोई लगाव न हो, जो राष्ट्र-प्रेम को ही सर्वोच्च धर्म समझें, इसी के लिए जिएं, इसी के लिए मरें। यही वे लोग हो सकते हैं जो जनता-जनार्दन के मन-मस्तिष्क को अपनी ओर आकर्षित कर सकें, न कि वे जो कोरी भाषणबाज़ी से जनता को बहला-फुसलाकर गुमराह कर दें।"

इस लेख से हरदयाल राजनैतिक क्षितिज पर नवोदित नक्षत्र की तरह प्रदीप्त

---

1. 'ए स्टरिंग अपील', 'यंग इंडिया' (लाला लाजपत राय), पृ० 166.

हो उठे। लन्दन की फ्लीट स्ट्रीट में, जहां अधिकतर समाचारपत्रों के कार्यालय हैं, खलबली मच गयी। लगभग हर पत्र के कार्यालय ने इस लेख की एक से अधिक प्रतियां खरीदीं। उधर प्रशासन की दृष्टि श्यामजी पर और भी कड़ी हो गई।

लगभग इसी समय जुलाई 1907 में मिस्र के प्रख्यात पत्रकार एवं काहिरा के 'अल वीवा' पत्र के सम्पादक मुस्तफा कामिल लन्दन पहुंचे। श्यामजी के लिए यह सुनहरा अवसर था कि वह उनसे मिलकर मिस्र की क्रूर सत्ता से आतंकित मुसलमानों के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट कर सकें। इस विचार से 24 जुलाई को 'पैन इस्लामिक सोसाइटी' की ओर से क्राइटेरियन रेस्टोरेंट में विशाल भोज का आयोजन किया गया। आमंत्रित लोगों में प्रमुख थे डॉ० कार्ल ब्लाइंड, प्रसिद्ध इतिहासकार एवं 'सीक्रेट हिस्ट्री ऑफ द इंग्लिश आकूपेशन ऑफ इजिप्ट' के लेखक डब्ल्यू० ए० ब्लांट तथा 'इंडिया होमरूल सोसाइटी' की ओर से अध्यक्ष के नाते श्यामजी। इसी सोसाइटी के एक उपाध्यक्ष सुहरावर्दी ने इस मिस्री देशभक्त के लिए अभिनन्दन पत्र भी पढ़ा, जिसका एक अंश इस प्रकार था —

"आज मिस्र के, अपने इस्लाम जगत की मुक्ति के लिए मुस्तफा कामिल जैसे वीर की आवश्यकता है—जिसके व्यक्तित्व में पूर्व और पश्चिम का अद्भुत सामंजस्य है। यह बात भी याद रहे कि मिस्र के इस मुक्ति संघर्ष में नील नदी से बहुत दूर राइन, दानुब और गंगा के तट पर रहनेवाले लाखों स्वतंत्रता प्रेमी भी उनके साथ हैं।"

सोसाइटी को अपने बधाई संदेश में श्यामजी ने इसे एक स्वर्णिम दिवस कहा, क्योंकि इस अवसर पर मुसलमान व हिन्दुओं के अतिरिक्त अंग्रेज़ व पारसी भी उपस्थित थे। मुस्तफा कामिल को अपनी शुभकामना देते हुए उन्हें 'मिस्र की राष्ट्रीय एकता का आधार स्तम्भ' और 'आज़ादी का अलम्बरदार' कहा। इसके बाद मुस्तफा कामिल ने जो रोंगटे खड़े करनेवाला भाषण दिया, उसके कुछ अंश इस प्रकार हैं—

"अंधी ताकत के नशे में धुत्त और इस ताकत का थोथा आडम्बर करनेवाले ढोंगी, तू अपनी कुम्भकर्णी नींद से जाग और देख कि तेरी जनता पतन के किस गर्त में जा पहुंची है। अभी भी समय है। इससे पूर्व कि कोई तेरे साम्राज्य की नींव हिलाकर तेरे शासन को ध्वंस कर दे, तू उठ और सावधान हो जा। आंखें खोल, वरना बाद में ग्लानि व पश्चात्ताप के अतिरिक्त कुछ भी हाथ नहीं आएगा।" फिर एकाएक श्रोताओं की ओर मुड़ते हुए मुस्तफा ने सिंह गर्जन किया—"यही संदेश पहुंचा दो उन गूंगे, ढोर-डंगरों की भांति हांके जाने वाले लोगों तक कि वे भी जागें और देखें कि जीवन का सही अर्थ क्या है? उठो! और इस धरती को अपने परिश्रम के पुष्पों से सजा दो!"

दिनोदिन बढ़ती हुई श्यामजी की क्रान्तिकारी गतिविधियां और राजनैतिक

लोकप्रियता अंग्रेज़ों की आंखों का कांटा बनती चली गई। इन सब बातों का उल्लेख इसलिए और भी आवश्यक है कि इंडिया हाउस में मनाई जाने वाली स्वर्ण जयन्ती से बहुत पहले ही श्यामजी के प्रति प्रतिकूल प्रशासनिक रवैया पनप रहा था। आग में घी का काम किया उस पत्र ने, जो श्यामजी ने इस जयन्ती की पूर्व संध्या को प्रकाशित और वितरित करवाया।

'ए ट्रिपिल रीपेरेशन' नामक इस लेख के लेखक थे श्यामजी व सावरकर के एक आयरिश मित्र ह्यू ओ डॉनिल जो आयरिश राष्ट्रीय मंच के उपाध्यक्ष भी थे। लेख में जहां 1857 की क्रान्ति में भारतीय सेना एवं नागरिकों के शौर्य का गुणगान किया गया था, वहीं अंग्रेज़ों द्वारा उनके दमन के लिए जघन्य कुकृत्यों की घोर भर्त्सना भी की गई थी। कलकत्ता (मंगल पांडे), मेरठ (10 मई), दिल्ली (13 मई) की गौरवपूर्ण घटनाओं के उल्लेख के साथ इस बात पर भी ध्यान दिलाया गया था कि अंग्रेज़ों ने जिस सेना के बलबूते पर इस क्रान्ति को विफल किया, उसके तीन-चौथाई सिपाही भारतीय ही थे। सिख, गोरखा व अन्य राज्यों के इन सैनिकों को अंग्रेज़ों ने चर्बीवाले कारतूसों के विषय में अंधकार में रखा और छल-कपट से गुमराह कर उनका दुरुपयोग किया।

यद्यपि भारत में इस क्रान्ति की स्मृति में कोई आयोजन नहीं हुआ तथापि कुछेक स्थानों पर कई भारतीय क्रान्तिकारियों ने इस महान क्रान्ति एवं इससे सम्बद्ध वीरों को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए इस संघर्ष को निरन्तर जारी रखने की शपथ ली। लार्ड मिन्टो को चौंकाने के लिए शायद इतना ही काफी था, उसने तुरन्त सुरक्षा उपाय और भी कड़े कर दिए। स्थिति तब और भी विस्फोटक हो गई जब 10 मई की पूर्व संध्या को लाहौर में लाला लाजपतराय और कुछ ही दिन बाद 2 जून को भगतसिंह के चाचा सरदार अजीतसिंह को बन्दी बनाकर चुपचाप बर्मा की मांडले जेल भेज दिया गया। लाहौर की रंगीन सड़कों पर जिस प्रकार दिन-रात गश्त करते सैकड़ों-हज़ारों गोरे सशस्त्र सैनिकों के भारी भरकम बूटों व घोड़ों की टापें सुनाई देतीं, उससे लगता कि सरकार सचमुच घबरा गई थी। इतना ही नहीं—अगले दिन 11 मई को ही सरकार ने एक विशेष अधिनियम द्वारा जन सभाओं पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया। इन घटनाओं से देश में आक्रोश की लहर दौड़ गई। श्यामजी के जीवनी लेखक इन्द्रलाल याज्ञिक के शब्दों में[1] :

"ऐसा लगता था मानो समूचे देश को किसी दावानल ने दबोच लिया हो। बंगाल विभाजन के बाद शायद किसी अन्य घटना से देश में इतना व्यापक रोष नहीं फैला था, जितना इन दो गिरफ्तारियों से। विदेशी आतताइयों की क्रूरता

1. 'श्यामजी कृष्ण वर्मा : लाइफ एण्ड टाइम्स ऑफ एन इण्डियन रिवोल्यूशनरी', पृ० 215.

से उत्पन्न क्रोधाग्नि की ज्वाला इतनी भड़क उठी कि सामान्य व्यक्ति भी इन दोनों नेताओं को स्वतंत्रता के जन-नायक के रूप में देखने लगा था।

भारत के बाहर भी हुई प्रतिक्रिया कुछ कम न थी, लन्दन में भारत का प्रतिरूप इंडिया हाउस तो मानो इस समाचार से स्तब्ध रह गया। यहां रहनेवाले भारतीय क्रान्तिकारी क्रोध व प्रतिशोध से तिलमिला उठे, विशेष कर श्यामजी, जिनसे लालाजी का विशेष स्नेह व निरन्तर पत्र-व्यवहार चल रहा था। अपने पत्र के अगले ही अंक में श्यामजी ने आहत स्वर में लिखा—

"देश की इन विषम परिस्थितियों में राजनैतिक मंच से लालाजी के अचानक लुप्त हो जाने से हमें, विशेषकर मुझे, जो आघात पहुंचा है, उसे शब्दों में व्यक्त करना सम्भव नहीं। कैसी विडम्बना है कि ठीक उसी दिन, जब लालाजी को गिरफ्तार किया गया, मुझे उनका एक मर्मस्पर्शी पत्र मिला, जिसमें उन्होंने यहां की जनता व समाचार जगत से अपने पत्र 'पंजाबी' के प्रति हुए अन्याय के विरुद्ध आह्वान का अनुरोध किया था। तब सम्भवत: उन्हें इस बात का अनुमान भी न था कि अगले तीन सप्ताहों में ही उन्हें उस क्रूर अधिनियम के अन्तर्गत बन्दी बनाकर देश से निष्कासित कर दिया जाएगा—वह भी ऐसी सरकार द्वारा जो सभ्य और शिष्ट होने का दावा करती है।"

लेख में लालाजी के उस भाषण का भी हवाला था जो उन्होंने जुलाई, 1905 में इंडिया हाउस के शुभारम्भ के अवसर पर दिया था और जिसमें ठहरने वालों में वही प्रथम भारतीय थे। लेख में उनके वह अमर शब्द भी उद्धृत किए गए थे जो उन्होंने लन्दन में 'कांग्रेस ऑफ रेडिकल एण्ड सोशल डेमाक्रेट्स' के मंच से कहे थे—"कोई भी व्यक्ति जो विदेशी सत्ता का समर्थन करता है, या तो असभ्य है या मूर्ख। यह भी याद रहे कि अंग्रेज़ों को भारत से अपना बोरिया-बिस्तर समेटकर जाना ही पड़ेगा—चाहे हंसकर या रोकर!" इसी ललकार भरे लेख में श्यामजी ने आगे लिखा—"लालाजी का भारत से निकाला जाना वास्तव में अंग्रेज़ों का भारत से निकाले जाने का पूर्व संकेत है।"

लेख के अन्त में उन्होंने लिखा—"लालाजी व अन्य साथियों ने त्याग व बलिदान का जो उदाहरण प्रस्तुत किया है, उसे देखकर वैण्डिल फिलिप्स के ये शब्द और भी सार्थक होते प्रतीत होते हैं कि किसी भी देश की स्वतंत्रता का मार्ग कंटीले रास्तों पर चलकर व फांसी के फंदों को चूमकर ही प्रशस्त होता है।"

पेरिस के भारतीयों में भी उतना ही रोष व्याप्त था। लालाजी के निष्कासन के दूसरे ही दिन, 11 मई को पेरिस में भारतीय समुदाय ने आपातकालीन सभा की, जिसमें लालाजी की गिरफ्तारी एवं बिना मुकदमा चलाए उनके देश निकाले के तानाशाही रवैये की तीव्र आलोचना के साथ-साथ उस महान नेता के त्याग व

युवा सावरकर

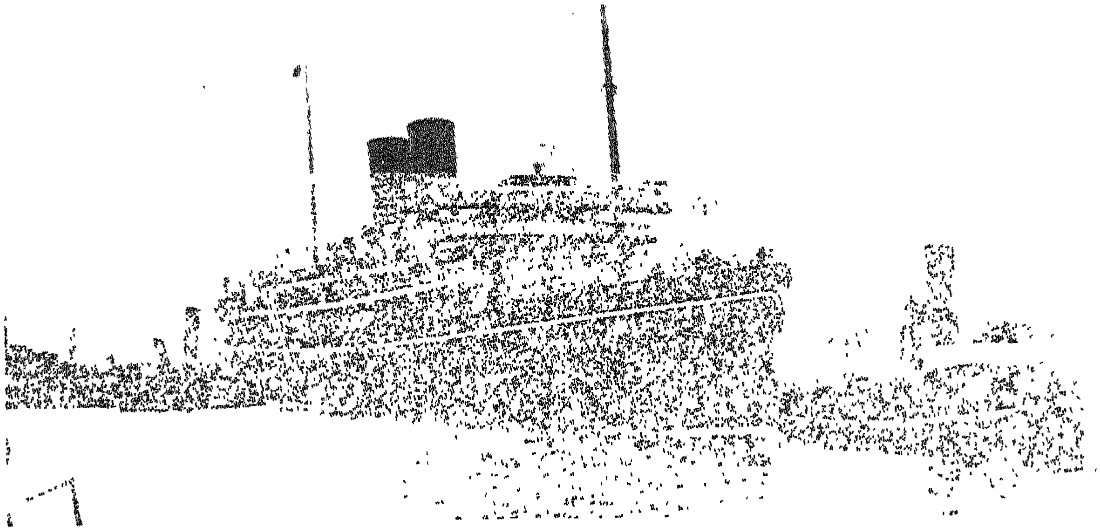

जलपोत 'मोरिया' जिसके शौचालय से सावरकर कूदकर भागे।

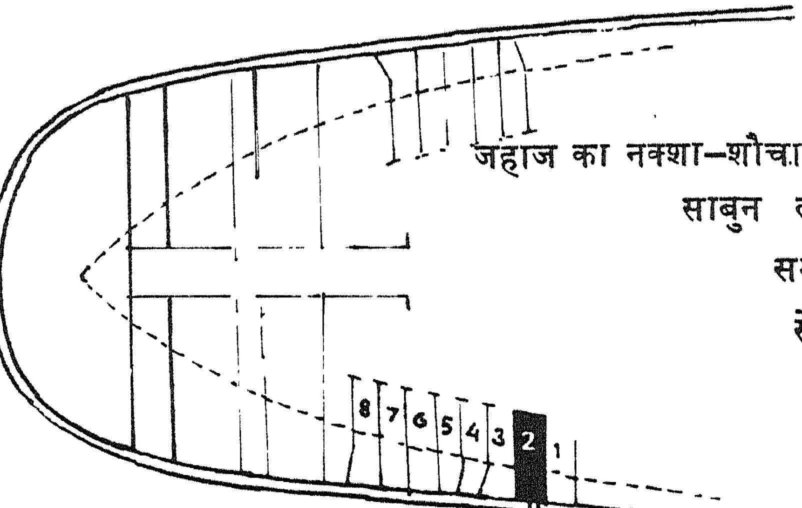

जहाज का नक्शा—शौचालय नं. 2 के पोर्ट-होल से बदन में साबुन लपेट कर नंगे बदन सावरकर समुद्र में फिसले। बिन्दु के स्थान से सिपाही उनपर नजर रखे था।

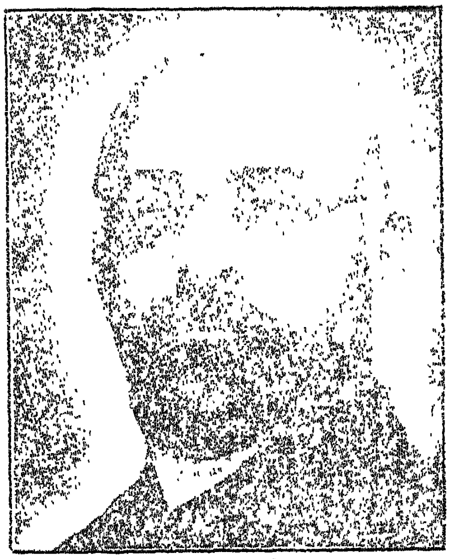

श्यामजी कृष्ण वर्मा–इंडिया हाउस के संस्थापक

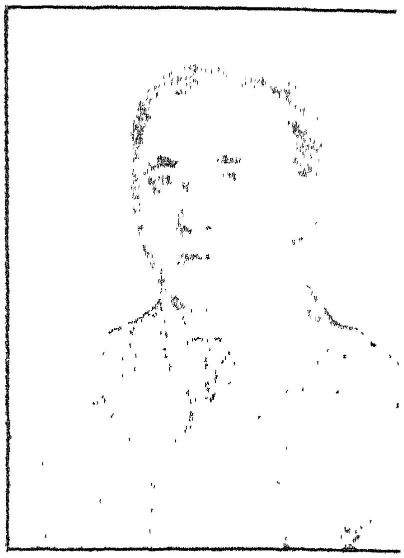

सावरकर के सहयोगी ग एल्ड्रेड जो भारत की स्व धीनता के लिए एक सा जेल में रहे।

इंडिया हाउस या भारत भवन–क्रान्तिकारियों का अड्डा

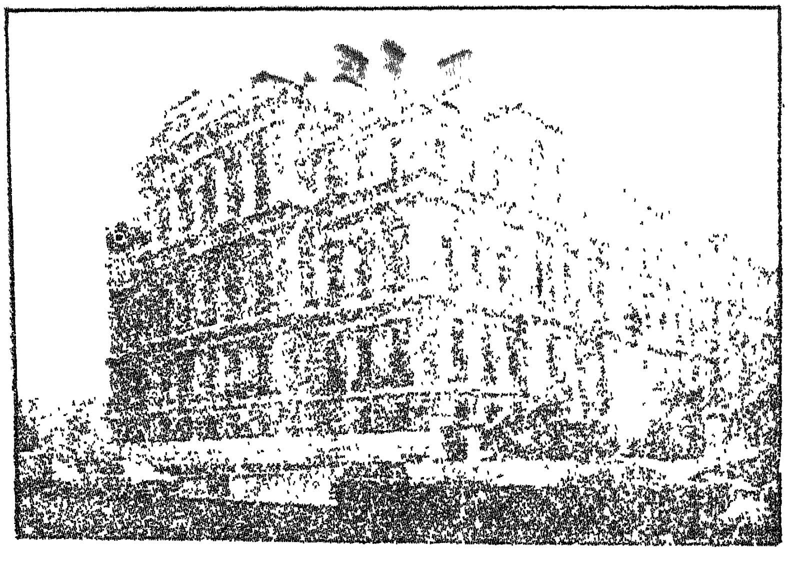

इंडिया आफिस–जहां से भारत पर शासन किया जाता था।

अभिनव भारत के सदस्य—(खड़े हुए, बायें से) मित्रा, एम. पी. टी. आचार्य, हरनाम सिंह, सैयद हैदर, टी.एस.एस. राजन, एक सेवक. (बैठे हुए) वी. वी. एस. अय्यर, जी. डी. शर्मा, वीर सावरकर, निरंजन पाल, खान, लाल गोविंद अमीन.

ग्रे'ज इन—जिसने सावरकर को डिग्री देने से इन्कार कर दिया (सामने लेखक खड़े हैं)।

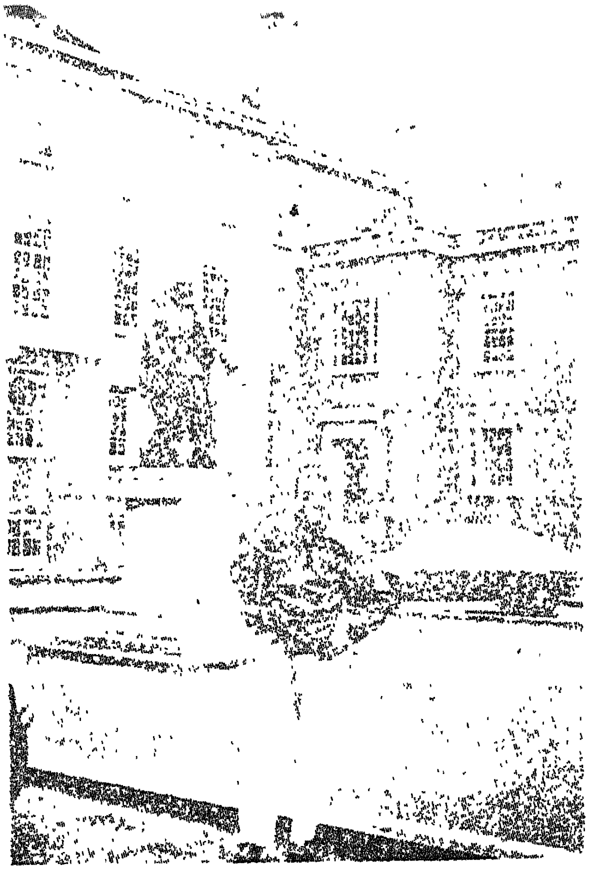

पेन्टोविल जेल

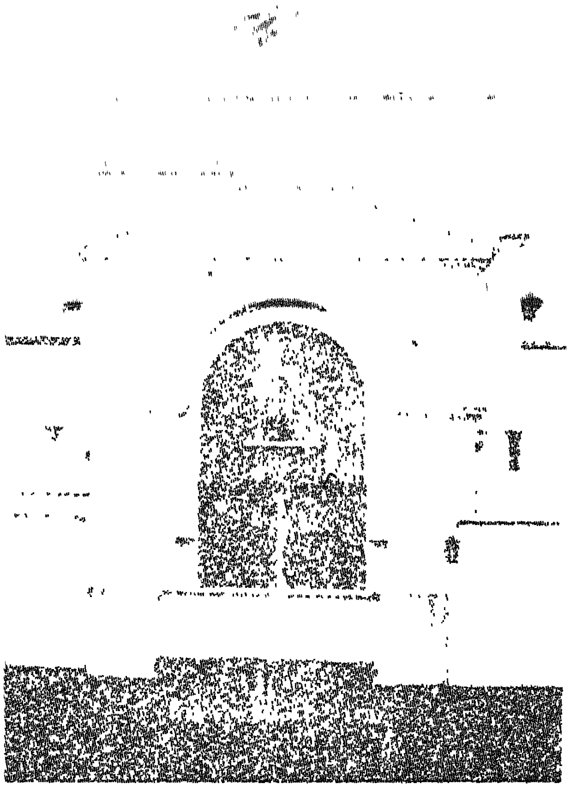

कर्जन वायली–जो मदनलाल धींगरा की गोली का शिकार हुए ।

ब्रिक्सटन जेल–जहां सावरकर को रखा गया ।

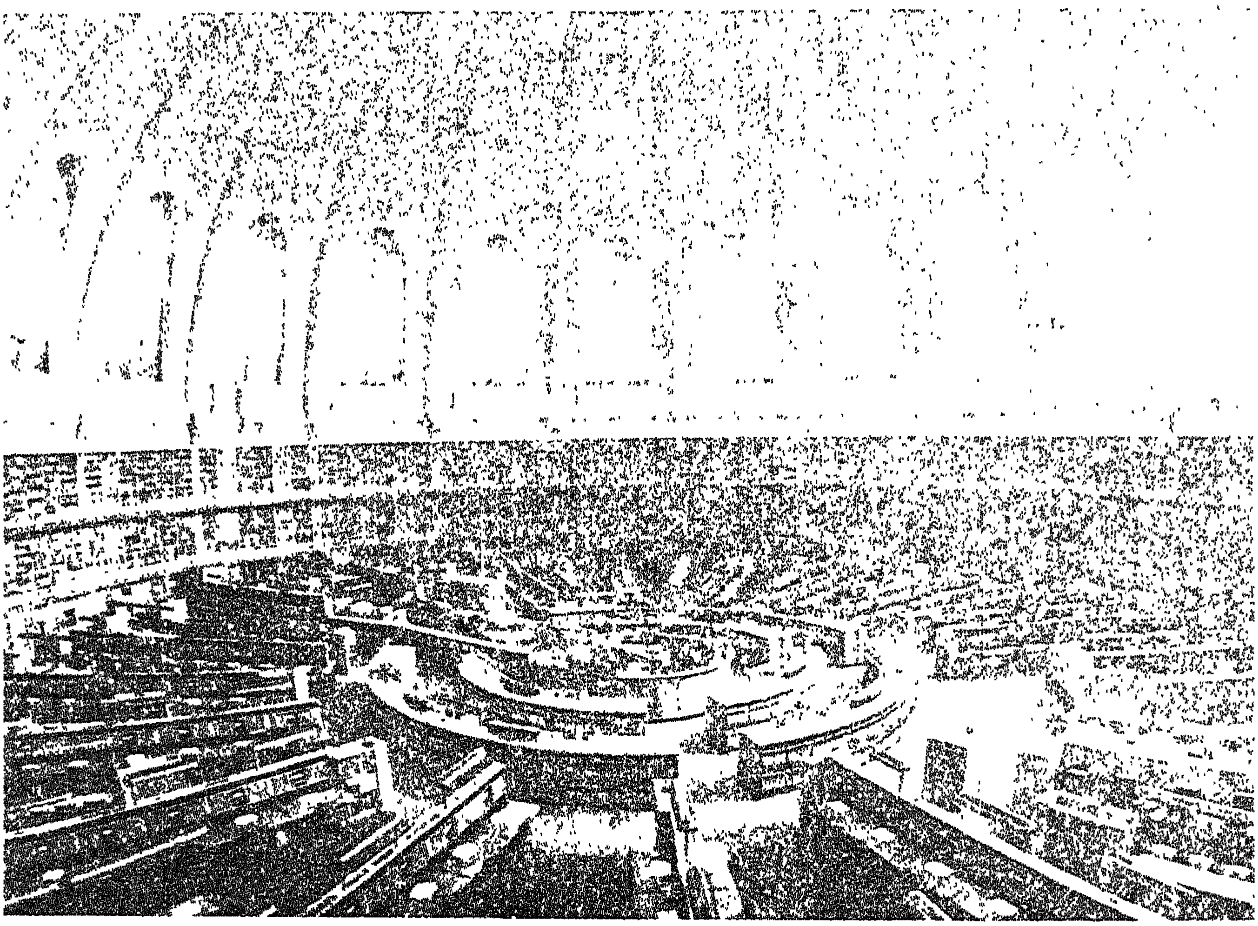

देशसेवा की प्रशंसा की गई। भारतीय क्रान्ति की जननी कही जाने वाली मदाम कामा ने अपने भाषण में गहरा रोष इन शब्दों में प्रकट किया—

"मुझे इस बात से बहुत ठेस पहुंची है कि लाजपतराय जैसे सच्चे देशभक्त को उनके घर-परिवार से छीनकर बन्दी बना दिया गया है। आप इन विदेशी शासकों के आश्वासनों पर भूल से भी विश्वास न करें। यह हमारा हाल सुधारने की अपेक्षा हमारी खाल खींच रहे हैं। भारत के नर-नारियो! आप इनके अत्याचार का विरोध करें। दासता के इस नरक में सड़ने से तो कहीं अच्छा है कि स्वतंत्रता के लिए मिट जाएं।

" स्वयं दासता की दलदल में धंसकर भारत के गौरवपूर्ण अतीत की महिमा बखानने से क्या लाभ ? वीर राजपूतों, सिक्खों, पठानों व गोरखाओं, देश-भक्त मराठों और बंगालियों, कर्मठ पारसियों, साहसी मुसलमानों व उदार जैनियों, आप सभी इतनी महान जातियों की सन्तान होते हुए भी अपनी परम्पराओं को क्यों भूल रहे हैं ? आखिर इस पराधीनता में रहने की क्या विवशता है ? उठो और स्वराज्य लेकर स्वतंत्रता व समानता की स्थापना करो! अपने लिए और आनेवाली पीढ़ियों की खातिर उठो! मानव अधिकारों के लिए जूझ पड़ो और दुनिया को दिखा दो कि अब भी पूर्व में पश्चिम को सीख देने की क्षमता है, विशेष कर पश्चिम के उन अंग्रेजों को जिन्हें उन्हीं के एक प्रसिद्ध कवि ने 'सफेदपोश दरिन्दे' कहा है।

"मैं पूछती हूं, आखिर कब तक हम लोग अन्याय एवं अत्याचार की चक्की में पिसते रहेंगे ? मेरा बस चले तो मैं इसी पल उस कारागार को तोड़कर लालाजी को मुक्त करा लाऊं। ऐसे महान देशभक्त को बन्दीगृह की सड़ांध से निकालना ही चाहिए। हो सकता है, इस प्रयास में हम मंज़िल तक पहुंचने से पूर्व ही समाप्त हो जाएं। पर याद रखो, आज़ादी भीख में नहीं मिलती, आगे बढ़कर छीनी जाती है।

"जागो! और ईश्वर के लिए उन करोड़ों, कराहते भारतीयों का आर्त्तनाद सुनो। यह बात समझ लो कि विदेश की बलिवेदी पर सर्वस्व न्यौछावर कर देने-वाले शूरवीर ही अमर होते हैं।

"आओ, हम सब एकजुट हो जाएं और मिलकर आवाज़ उठाएं। फिर देखें, हम सबको बन्दी बनाने के लिए यह ज़ालिम सरकार कितने किले और कैदखाने बनवा सकती है। आखिर हम लोग 30 करोड़ से भी अधिक हैं, और ये हमारे एक चौथाई भी नहीं। हमें आवश्यकता है, तो केवल संगठन की। परीक्षा की इस कड़ी घड़ी में हमें कोताही नहीं बरतनी चाहिए।

"साथियो! स्वाभिमान से काम लो और इस अंधी तानाशाही के किसी

काम में कोई सहयोग मत दो। आओ, हम सब भारतीय 'वन्देमातरम्' के महा-मन्त्र से प्रेरणा लें। आओ ! परीक्षा की इस घड़ी में करने या मरने की शपथ लें !"

मदाम कामा का यह ओजस्वी आह्वान 'इंडियन सोश्यालाजिस्ट' के जून अंक में प्रकाशित होने के अतिरिक्त इंडियन हाउस में आयोजित 7 जून की आम सभा में भी पढ़कर सुनाया गया। सावरकर द्वारा संचालित इस सभा की अध्यक्षता स्वयं श्यामजी ने की। इस अवसर पर उन्होंने भारत के राज्य सचिव लार्ड मार्ले के कुछ मूर्खतापूर्ण वक्तव्यों का हवाला देते हुए अंग्रेजी बर्बरता को आड़े हाथों लिया।

हम पहले ही बता चुके हैं कि श्यामजी की गतिविधियां ब्रिटिश सरकार के लिए दिनोंदिन जानलेवा बनती जा रही थीं। उनके विरुद्ध ब्रिटिश आकाश पर छाए घटाटोप बादल आखिर 17 मई को फट ही पड़े। उन पर दोषारोपण के अभियान का आरम्भ हुआ एफ० एफ० स्कर्मी नामक एक सेवा-निवृत्त एंग्लो इंडियन आई० सी० एस० अफसर से। भारत में इससे भी अधिक लन्दन के इंडिया हाउस में अंग्रेज-विरोधी गतिविधियों की निंदा करते हुए उसने 17 मई के 'द टाइम्स' में लिखा—

"गत कई वर्षों से लन्दन आनेवाले भारतीय विद्यार्थियों में अंग्रेजों के प्रति अकारण घृणा उत्पन्न करने का एक सुनियोजित कुचक्र चल रहा है। इन विद्यार्थियों को फुसलाने वाले वे लोग हैं जिनके पास पर्याप्त धन है और जो इन विद्यार्थियों के रहने और खाने की सुविधा भी देते हैं। यह सुविधा इसी शर्त पर दी जाती है कि वे किसी भी रूप में सरकारी नौकरी नहीं करेंगे। ऐसे कितने ही नव-युवक हैं जिन्हें उनके सम्बन्धियों ने मेरे संरक्षण में भेजा, पर वे भी इन बदमाशों के चंगुल में पड़कर बरबाद हो गए।"

इस विशिष्ट अधिकारी की अशिष्ट शब्दावली पर व्यंग्य करते हुए श्यामजी ने लिखा—

"बदमाश !······वाह, क्या मज़ेदार शब्द है। इससे पता चलता है कि अपने राजनैतिक विरोधियों के चरित्र-हनन के लिए ये ऐंग्लो-इंडियन चमचे अभद्रता की किस सीमा तक गिर सकते हैं।"

लगभग इसी समय 'नेशनल रिव्यू' के जून अंक में एक लेख और छपा। 'भारत में आकांक्षा व राजद्रोह' (एम्बीशन एण्ड सिडीशन इन इंडिया) शीर्षक से छपे इस लेख में एक अन्य द्वेषी ऐंग्लो-इंडियन सर आइवन जेम्स ने भी श्यामजी के कार्यकलाप पर खुलकर चोट की—

"आश्चर्य है कि यह सब कुछ करनेवाला व्यक्ति लन्दन में ही रहता है। इंडिया होमरूल सोसायटी के अध्यक्ष इस व्यक्ति का नाम है श्यामजी कृष्ण वर्मा, एम० ए० (आक्सफोर्ड)। जिस तरह यह लाखों भोले-भाले भारतीयों में हमारे

खिलाफ घृणा के विषाणु बो रहा है, उसे देखकर डर लगता है कि कहीं हमारा साम्राज्य ही समाप्त न हो जाए। हमारी सैन्य शक्ति कितनी ही क्यों न हो, पर यदि एक बार ये करोड़ों लोग एक साथ उठ खड़े हुए तो उनको रोक पाना असम्भव हो जाएगा।[1]" लेख के अन्त में यह कड़ी चेतावनी दी गई—

"भारत की भलाई इसी में है कि वह राजद्रोह की इस भावना को समय रहते दबा दे; बजाय इसके कि अंग्रेज सैनिकों में और बढ़ोतरी की जाए। आखिर इतने सैनिक आएंगे कहां से ?"

सावरकर इन दिनों ब्रिटिश म्यूजियम लाइब्रेरी में पुस्तक लिखने में व्यस्त थे। वहीं उनकी दृष्टि उपरोक्त लेख पर भी पड़ी। उन्होंने तुरन्त वहीं बैठकर इसका मुंहतोड़ उत्तर लिख डाला। श्यामजी की ओर से लिखे गए इस प्रत्युत्तर में सारे इंडिया हाउस की गूंज निहित थी।

उन्होंने लिखा—"यदि किसी व्यक्ति को मात्र इसलिए 'कट्टर देशद्रोही' की संज्ञा दी जाती है कि वह अपने देशवासियों को विदेशी सत्ता का क्रूर जुआ उतार देने के लिए प्रेरित करता है तो हम भी स्वयं को ऐसा कहलवाने में गौरवान्वित अनुभव करेंगे। सभी मूलतः भारतीय हैं, अंग्रेज नहीं।"

इस करारे उत्तर से इंडिया हाउस व इंडिया आफिस में एक तरह शीत-युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो गई। लन्दन के पत्र-पत्रिकाओं में श्यामजी, सावरकर व उनके अन्य सहयोगियों के विरुद्ध कटुतम लेखों की मानो बाढ़ आ गई। उधर स्काटलैंड यार्ड धीरे-धीरे भारत-भवन पर अपना शिकंजा कसता जा रहा था। उसकी आंख की सबसे बड़ी किरकिरी थे श्यामजी कृष्ण वर्मा। उनके पत्र खोलकर पढ़े जाते। कई बार उनके पत्र के कार्यालय व मुद्रणालय पर छुट-पुट छापे भी पड़े। स्थिति दिनोंदिन नाजुक होती जा रही थी। श्यामजी सरकार के इरादों से पूरी तरह सजग थे। ऐसी हालत में उनके सामने तीन रास्ते थे। पहला आत्मसमर्पण और कारावास, दूसरा बन्दी बनाकर न्यायालय में पेशियां भुगतना, या भागकर किसी अन्य देश में शरण लेना। आत्मसमर्पण उनकी शान के विरुद्ध था। अकारण बलिदान उन्हें पसन्द नहीं था, अतः उन्होंने इंग्लैंड ही छोड़ देने का निर्णय लिया। वही बर्तानिया, जिसे कभी वह संसार के 'सभी दलित पुरुषों

---

1. भारतीयों के प्रति अनादर व अंग्रेज़ों के प्रति आसक्ति का यह आंग्ल-भारतीय रवैया कुछ विचित्र-सा लगता है। वंशोत्पत्ति से ये लोग जितने अंग्रेज थे, उतने ही भारतीय भी। वरन अपेक्षाकृत इन्हें 'अधिक भारतीय' कहना ही तर्कसंगत होगा, क्योंकि इनका जन्म भारत में हुआ। स्वाभाविक है कि व्यक्ति का लगाव अपनी जन्मभूमि से अधिक होता है, क्योंकि यही उसकी मातृभूमि भी है।—लेखक

का सर्वाधिक सुरक्षित आश्रय स्थल' कहा करते थे। कई वर्षों बाद 1914 में 'इंडियन सोश्यालाजिस्ट' के जून अंक में अपने पेरिस पलायन के कारणों का स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने लिखा कि इसके पीछे कोई शंका या आशंका का वातावरण नहीं था, वरन इसलिए कि उन्हें पूरा विश्वास हो गया था कि इंग्लैंड में रहकर कोई भी भारतीय अपनी मातृभूमि की स्वतंत्रता का स्वप्न साकार नहीं कर सकता।

जो भी हो, श्यामजी के पास अब अधिक समय नहीं था। उन्होंने झटपट 'इण्डिया होम रूल सोसाइटी' को समेटा और इंडिया हाउस का सम्पूर्ण कार्य भार सावरकर को सौंप दिया। लन्दन में उनके सभी परिचितों को उनके फ्रांस जाने की तैयारी के विषय में मालूम था। इसकी पूर्ण पुष्टि उनके पत्र के जून अंक से हो गई जो जान-बूझकर उनके पेरिस गमन के बाद ही प्रकाशित किया गया। इस अंक में फ्रांस की महाक्रान्ति के उस गौरव गीत को बड़ी शान से छापा गया जिसकी मचलती धुन पर बैस्टील के कारागार को नष्ट कर दिया गया था। 'ल मार्सेल्स' नाम का यह गीत आज भी फ्रांस का राष्ट्रीय गान है। मूल फ्रांसीसी व अंग्रेज़ी रूपान्तर के अतिरिक्त इसी अंक में इस गीत का संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, बंगला, मराठी और गुजराती अनुवाद भी छापा गया। यह सभी अनुवाद बहुभाषाविद् श्यामजी ने स्वयं ही किए थे। उसका मिला-जुला हिन्दुस्तानी अनुवाद भी था, जो इस प्रकार है—

चलो तुम स्वदेश के सब जन
फतह का अब आ गया दिन
झंडा जुल्म का खूनी
चढ़ा है रूबरू अपने
मैदां में सुनते हो यार
ज़ालिम सीज़र की ललकार
देखो तुम, वे आते पास
करने पुत्र-प्रिया का नाश
स्वदेश चलो, लो हथियार
करो तुम पलटनें तैयार
चलो, चल करें दुश्मन चूर
खूनी खेत, फलें भरपूर।

पर अंग्रेज़ सरकार का गुस्सा श्यामजी के जाने के बाद भी ठंडा नहीं पड़ा, यद्यपि श्यामजी ने जून के आरम्भ में ही लन्दन छोड़ दिया था। उनके विरोध की गर्म हवाएं लन्दन में इसके बहुत समय बाद तक भी चलती रहीं। 'द टाइम्स'

ने अपने 19 जून के अंक में उस 'मार्सेल्स' गीत का उल्लेख करते हुए लिखा कि 'यह तो खुली सशस्त्र क्रान्ति का आह्वान है।' असन्तोष की उठती यह लहर 30 जुलाई को हाउस ऑफ कामन्स में जा टकराई। एक सांसद मि० रीस ने भारत राज्य के सचिव मि० मॉर्ले से खुले शब्दों में यह बात जाननी चाही कि क्या उन्होंने श्यामजी के गीत, वक्तव्यों व अन्य गतिविधियों पर कभी कोई ध्यान दिया है ? और यह भी कि इस विषय में क्या कार्यवाही की गई है ? स्वाभाविक था कि इस गूंज से श्यामजी का नाम और ख्याति दूर-दूर तक फैल गई। अतः एक तरह से यह सब कुछ उनके हित में ही हुआ।

पेरिस में उन्हें अपने कार्य-संचालन के लिए किसी प्रकार के पूर्व-प्रचार की आवश्यकता नहीं हुई राजनैतिक क्षेत्र में वह अब तक बहुचर्चित हस्ती बन चुके थे। यहां से उन्होंने नए जोश के साथ अपने पत्र का पुनः प्रकाशन आरम्भ किया, और इसमें अंग्रेज़ों की टीका-टिप्पणी का करारा उत्तर दिया। इन लेखों में अकाट्य तर्क यह भी था कि अंग्रेज दार्शनिक हरबर्ट स्पेन्सर का उपासक एवं प्रशंसक अंग्रेज़ों का नहीं, वरन् अंग्रेजी साम्राज्य का विरोधी है।

सावरकर का इंडिया हाउस

'इंडिया हाउस का कार्य भार सम्भालते ही सावरकर ने सबसे पहले अपने विश्वासपात्रों की एक शिखर बैठक बुलाई, जिसमें भविष्य की कार्य-प्रणाली निर्धारित की गई। यह देखते हुए कि लन्दन की राजनैतिक जलवायु अब खुले विरोध के लिए अधिक अनुकूल नहीं रही, उन्होंने अपनी लक्ष्य-प्राप्ति के लिए नए प्रकार की व्यूह रचना की।

इस रचना का मुख्य उद्देश्य था अन्य देशों में भारत के स्वाधीनता संघर्ष के लिए जागृति उत्पन्न करके वहां की सत्ता से सहानुभूति और सहायता प्राप्त करना। वह भारत की समस्याओं को भारत व इंग्लैंड के सीमित मानचित्र से निकालकर विश्व-राजनीति के मंच पर लाना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने हर सम्भव प्रयास किया। पड़ोसी देश आयरलैंड तो पहले से ही सावरकर का समर्थक था। वहां के समाचारपत्रों में निरन्तर सावरकर के लेख छपते रहते। इसी बीच, न्यूयार्क से प्रकाशित जी० एफ० फ्रीमेन के 'गैलिक अमेरिकन' ने भी उनकी रचनाएं छापनी आरम्भ कर दीं। भारतीय स्वतंत्रता के कट्टर समर्थक इस पत्र पर शीघ्र ही भारत में प्रतिबन्ध लगा दिया गया। इन लेखों के अनुवाद जर्मनी, फ्रांस, इटली, रूस और पुर्तगाल के भी कई पत्रों ने प्रकाशित करने आरम्भ कर दिए। सावरकर का सन्देश अब विश्व के कोने-कोने में पहुंच चुका था। इससे

वहां के लोगों में भारत के प्रति अभूतपूर्व चेतना का संचार हो रहा था। एमिली ब्राउन[1] के शब्दों में—

"सावरकर के लेख में विश्व के देशभक्तों, विशेषकर नवयुवकों को भारत-भूमि की मुक्ति के लिए जी-जान से जुट जाने की प्रेरणा मिलती है। मातृभूमि अथवा मातृभूमि से प्रेरित वन्दे मातरम् का नारा ऐसे लोकप्रिय हो गया था जैसे नाज़ियों में 'हेल हिटलर'! (हिटलर अमर रहे)"

यहां यह बता देना भी उपयुक्त होगा कि अभिनव भारत के हर नए सदस्य को भी मातृभूमि के नाम पर शपथ लेनी पड़ती थी। शपथ का सार इस प्रकार था—

"छत्रपति शिवाजी के नाम पर, अपने पवित्र धर्म के नाम पर, और अपने प्यारे देश के लिए पूर्व पुरुषों की शपथ लेते हुए मैं यह प्रतिज्ञा करता हूं कि मेरा राष्ट्र तभी समृद्धिशाली हो सकता है जब उसे स्वतंत्रता, पूर्ण स्वतंत्रता मिले। इस विश्वास से मैं तन-मन-धन से देश की स्वतंत्रता और उसके समस्त कल्याण के लिए प्रतिज्ञा करता हूं। इसके लिए मैं अपनी अन्तिम सांस तक जी तोड़ संघर्ष करता रहूंगा। मैं न तो आलस्य करूंगा और न इस उद्देश्य से पीछे हटूँगा। मैं अभिनव भारत के नियमों का पूर्ण पालन करूंगा और संस्था के कार्यक्रम सर्वथा गुप्त रखूंगा।"

ऐसी ही शपथ इंडिया हाउस के सहवासी हर रात 'शुभरात्रि' के रूप में सामूहिक स्वर में दोहराते थे—

एक देव, एक देश, एक भाषा,
एक जाति, एक जीव, एक आशा।

गांधी का उदारवाद और सावरकर

पाठकों को याद होगा कि लगभग एक वर्ष पूर्व अक्तूबर 1906 में जब गांधी लन्दन गए थे तो उनमें और सावरकर में अपने-अपने दृष्टिकोणों पर, जो सर्वथा प्रतिकूल थे, काफी नोक-झोंक हुई थी। जहां सावरकर चन्द्रगुप्त[2], शिवाजी, तिलक, मैज़िनी और गैरीबाल्डी के जीवन-दर्शन से प्रभावित थे तथा ईंट का जवाब पत्थर से देने में विश्वास करते थे, दूसरी ओर गांधी बुद्ध, अशोक, गोखले, तालस्ताय व थोरो के सिद्धान्तों के अनुयायी थे। उदारता के उन्माद में उन्होंने शिवाजी को भी पथ-भ्रष्ट देश-भक्त कह डाला।

---

1. 'हरदयाल : हिन्दू रिवोल्यूशनरी एण्ड रेशनलिस्ट', पृ० 61-62.
2. महान चन्द्रगुप्त की वीरता व अशोक की अति अहिंसा की सर्वथा मौलिक व अकाट्य विवेचना सावरकर की अन्तिम पुस्तक 'भारतीय इतिहास के छह स्वर्णिम पृष्ठ', भाग 1, में मिलती है।

लन्दन से क्रमश: 8 फरवरी और 19 जुलाई को लिखे दो पत्रों में सावरकर ने गांधी की उदारवादी नीतियों की आलोचना करते हुए लिखा—

"छोटी-मोटी उपलब्धियों की बात जाने दीजिए पर सम्पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए सशस्त्र क्रान्ति के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प नहीं। अति उदारता की अव्यावहारिक नीतियां अन्तत: टांय-टांय फिस हो जाती है।"

अपने तर्क को और भी सुदृढ़ करने के लिए उन्होंने दक्षिणी फ्रांस में हुए तत्कालीन किसानों व श्रमिकों के अहिंसक आन्दोलन का उदाहरण दिया। इस आन्दोलन में विद्यार्थियों ने विद्यालय और बाबुओं ने दफ्तर जाना बन्द कर दिया, संसद सदस्यों ने त्यागपत्र दे दिए और पुलिस कर्मियों ने काम करने से इन्कार कर दिया पर इस सबके बावजूद कुछ न बन सका। इन सबको कुचलने के लिए शीघ्र ही सैनिक शासन थोप दिया गया और सारा आन्दोलन धरा रह गया।

"अब बोलिए"—सावरकर ने लिखा—"ऐसी स्थिति में उदारता क्या करेगी? हमें ऐसे दृष्टान्तों से सीख लेनी चाहिए। उदारता का सिद्धान्त केवल वहीं चल सकता है जहां विपक्ष में भी उच्च नैतिक आचरण हो।"

कोई बताए कि नादिर, चंगेज़, तैमूर, अब्दाली, गज़नी या गज़नवी जैसे क्रूर हमलावरों से ऐसे आचरण की अपेक्षा करना और इनके साथ उदारता से पेश आना कहां तक न्यायसंगत होता?"

स्टटगार्ट में अन्तर्राष्ट्रीय समाज संघ की बैठक

जैसा पहले भी कहा जा चुका है कि सावरकर का मुख्य उद्देश्य अब भारतीय समस्याओं को विदेशों में पहुंचाकर विदेशी समर्थन प्राप्त करना था। संयोगवश तभी इंडिया हाउस में समाचार मिला कि 22 अगस्त, 1907 को जर्मनी के स्टटगार्ट नगर में 'अन्तर्राष्ट्रीय समाज संघ' की बैठक होने जा रही है। सावरकर किसी ऐसे ही सुनहरे अवसर की ताक में थे। तुरन्त यह निर्णय लिया गया कि भारत की ओर से इस बैठक में भाग लेने के लिए मदाम कामा व सरदार सिंह राणा को भेजा जाए। इंग्लैंड की ओर से जाने वाले 123 प्रतिनिधियों में ये दोनों भी सम्मिलित थे। मज़े की बात यह कि इन दोनों नामों का प्रायोजन भी 'सोशल डेमोक्रेटिक फेडरेशन' के अंग्रेज़ अध्यक्ष एच० एम० हिन्डमेन ने स्वयं किया। इतना ही नहीं, उन्होंने 'अंग्रेजों द्वारा भारत का विनाश' शीर्षक से एक लेख भी पढ़ा जिसमें अंग्रेज़ों की अंधी तानाशाही व 'लड़ाओ और खाओ' की नीति की खुलकर निंदा की गई थी। भारत के गौरवपूर्ण अतीत की महिमा का बखान करते हुए उन्होंने कहा—"यदि किसी देश की सभ्यता का मूल्यांकन वहां की कला, शिल्प-कला, कृषि, उद्योग, दर्शन व धर्मशास्त्र से किया जा सकता है तो भारत यूरोप के किसी भी देश से अधिक उन्नतशील रहा है। यूरोप का कोई

शासक अकबर, शाहजहां व शिवाजी जैसे शासकों का मुकाबला नहीं कर सकता; न ही टोडरमल या नाना फड़नवीस जैसे वित्त मंत्रियों का।" इस कथन से सभा में काफी खलबली मच गई। इसके बाद मदाम कामा जब मंच परबोलने के लिए आईं तो अंग्रेज़ प्रतिनिधि रैम्ज़े मैकडानल्ड ने, जो बाद में इंग्लैंड के प्रधानमंत्री भी बने, इसका कड़ा विरोध किया। पर इंग्लैंड के ही हिन्डमेन, जर्मनी के ब्यूकील और फ्रांस के जीन ज्यारिस के समर्थन के समक्ष रैम्ज़े की एक न चली और वह खीझ कर बहिर्गमन कर गए। यह सचमुच अद्‌भुत दृश्य था जब पराधीन भारत की स्वतन्त्रता का ध्वज लिए, जिसकी रचना स्वयं सावरकर ने की थी, यह भारतीय महिला मंच पर आई। विदेश में यह प्रथम भारतीय ध्वजारोहण था। इसे फहराते हुए उन्होंने कड़कते शब्दों में कहा[1]—

"भारत में अंग्रेज़ी साम्राज्य निश्चय ही भारतीय हित के लिए घोर रूप से घातक है। संसार के समस्त स्वतंत्रता प्रेमियों को चाहिए कि वह विश्व की इस 20 प्रतिशत दुखी, दलित व परतंत्र जनसंख्या को शीघ्र से शीघ्र मुक्त कराए। किसी भी समाजवादी राष्ट्र के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि वह किसी विदेशी सत्ता के अधीन न हो।"

फिर अंग्रेज़ प्रतिनिधियों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने ऊंचे स्वर में कहा—

"आप लोग यहां बैठे उपनिवेशवाद की चर्चा कर रहे हैं। पर क्या आपने हम जैसे अधीन देशों के विषय में भी सोचा है? न्याय का बीड़ा उठाइए और यह निर्णय लीजिए कि भारत को समाजवादी संघ में सबसे प्रमुख स्थान मिले।"

भारत का चरम बिन्दु तब आया, जब ध्वज को हाथ में ऊँचे उठाकर वह गरजीं—

"इसे पहचानिए! यह भारतीय स्वतंत्रता का ध्वज है। शहीदों के रक्त में

---

1. वी० वी० एस० अय्यर के सुपुत्र श्री कृष्णमूर्ति ने अपने पांडिचेरी निवास स्थान पर इस ध्वज को 1920 तक सुरक्षित देखा। हरा, स्वर्णिम पीला और भगवे रंग का यह तिरंगा ध्वज क्रमशः मुस्लिम, बुद्ध व सिख तथा हिन्दुओं का प्रतीक था। बीच में स्वर्णाक्षरों में अंकित 'वन्देमातरम्'। इस ध्वज के ऊपरी भाग में आठ राज्यों के प्रतीक आठ सितारे व मध्य भाग में बाईं ओर हिन्दुओं का सूर्य व दाईं ओर मुसलमानों का चांद था।

सावरकर द्वारा ही रचित, कृपाण कुंडलिनी युक्त एक अन्य हिन्दू ध्वज 1928 में सूरत में हिन्दू महासभा के अधिवेशन में फहराया गया। बाद में यही ध्वज स्वस्तिक चिह्न के साथ हिन्दू महासभा ने अपना लिया।

सिंचित यह और भी पावन हो गया है। मैं आप सभी स्वतंत्रताप्रेमियों का आह्वान करती हूं कि आप सब उठकर इस भारतीय ध्वज को सम्मान दें।"

और सचमुच सभी प्रतिनिधियों ने खड़े होकर इस ध्वज का सम्मान किया। मदाम कामा के इस ओजस्वी भाषण के समाप्त होने पर भवन देर तक तालियों की गड़गड़ाहट से गूंजता रहा। कुछ सदस्यों ने तो उन्हें भारत की 'महारानी' कहकर सम्बोधित किया। सभा के आठ-दस सप्ताह बाद मदाम कामा ने न्यूयार्क जाकर यही संदेश कई भेंट वार्ताओं व जन सभाओं में ज़ोर-ज़ोर से दोहराया।

सावरकर के लिए यह महान सफलता थी। इसके बड़े दूरगामी परिणाम निकले। इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि जर्मनी की कैसर जैसी शक्ति ने भी राष्ट्रपति विलसन को एक पत्र में स्पष्ट रूप से लिखा था—"भारत की सम्पूर्ण राजनैतिक स्वाधीनता के बिना विश्व-शान्ति सम्भव नहीं।"

अभिनव भारत का घोषणा-पत्र

इसके बाद सावरकर की गतिविधियां और भी तेज़ होती गईं। उन्हें लगा कि मात्र शब्दों से, चाहे वे लिखित हों अथवा मौखिक, बात नहीं बनेगी। बात बनती है कुछ ठोस कामों से। अत: लेखों व भाषणों के अतिरिक्त उन्होंने कर्म-प्रधान योजनाएं बनानी आरम्भ कीं। यह ठीक है कि अभिनव भारत कुछ समय के लिए लन्दन में मन्द पड़ गया था पर यूरोप के अन्य नगरों में और भारत में भी इसकी शाखाएं तेज़ी से फैल रही थीं। वी० वी० एस अय्यर जैसे प्रखर उपाध्यक्ष तथा ज्ञानचन्द वर्मा जैसे समर्पित सचिव के संयुक्त प्रयासों से अभिनव भारत ने शीघ्र ही अपना घोषणा-पत्र जारी किया। कार्यक्रम की प्रमुख बातें थीं :

(1) स्वदेशी तथा बॉयकाट का प्रचार व राष्ट्रीय प्रशिक्षण।
(2) पड़ोसी देशों से शस्त्रों की खरीद व संकलन।
(3) छोटे-छोटे शस्त्रों के कारखाने लगाना।
(4) विदेशों से शस्त्र मंगाकर उन्हें चोरी छिपे भारत भेजना।
(5) गोरिल्ला युद्ध-शिक्षा का प्रशिक्षण व प्रसार।
(6) भारतीय सेनाओं में देशभक्ति की ज्वाला भड़काकर उन्हें विद्रोह के लिए उकसाना।
(7) सशस्त्र क्रान्ति के लिए समुचित अवसर की खोज।

विश्व में तेज़ी से बदलते घटनाक्रम से उत्पन्न महायुद्ध की प्रबल संभावना देखकर सावरकर का यह विश्वास दृढ़ हो चला था कि ऐसा सुअवसर अब अधिक दूर नहीं है। रूस, आयरलैंड, मिस्र व चीन के क्रांतिकारी देशभक्तों से अभिनव भारत का सम्पर्क निरन्तर बढ़ता जा रहा था। तुर्की-आंदोलन का प्रमुख नेता कमाल अतातुर्क भी इन दिनों लन्दन में ही आश्रय लेकर स्वदेश में राजतन्त्र को

उखाड़ फेंकने की चेष्टा कर रहा था। सावरकर और अय्यर उनसे अक्सर मिलते और विचार-विमर्श करते।

सावरकर की एक योजना यह भी थी कि कमाल के साथ मिलकर संयुक्त ब्रिटिश विरोधी मोर्चा बनाया जाए और दोनों एक साथ और एक ही समय ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध उठ खड़े हों। इसी योजना का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह भी था कि सशस्त्र क्रांति छिड़ते ही स्वेज नहर को बंद कर दिया जाए। मिस्र के प्रमुख नेताओं व निर्वासित क्रांतिकारियों ने भी, जो उस समय लन्दन में थे, सावरकर को पूर्ण सहयोग का आश्वासन दिया।

पर इन तमाम विदेशी सहायता तथा आश्वासनों का तब तक कोई अर्थ नहीं था जब तक भारतवासी स्वयं युद्ध-विद्या में दक्ष न होते। लन्दन में इस प्रकार के प्रशिक्षण की कोई व्यवस्था संभव नहीं थी। कुछ भारतीयों ने एक राइफल शूटिंग क्लब में जाना शुरू भी किया। पर उन पर पुलिस की नज़र कड़ी हो गई। बाद में उन्होंने लन्दन से दूर सुनसान ठौर ढूंढ़ निकाला और वहां रिवाल्वर चलाने का अभ्यास शुरू किया। प्रशिक्षण का काम रूसी व आयरिश क्रांतिकारी, विशेषकर सिनफिन[1] आंदोलन के सदस्य किया करते।

उन्हीं दिनों स्पेन और मोरक्को में युद्ध छिड़ गया। शक्ति के नशे में चूर स्पेन मोरक्को का बहुत बड़ा भाग हड़प कर जाना चाहता था। सावरकर के लिए यह अचूक अवसर था कि वह अपने साथियों को सैनिकों के रूप में आज़माएं।

---

1. अभिनव-भारत और सिनफिन की यह सांठ-गांठ सावरकर के लिए आगे चलकर भी लाभदायक रही। अंडमान की जेल का खूंखार आयरिश जेलर बैरी सावरकर के प्रति अपेक्षाकृत इसीलिए विनम्र था कि एक समय वह स्वयं भी सिनफिन आंदोलन से सम्बद्ध रह चुका था। इसके अतिरिक्त बैरी का सम्बन्धी डी वेलेरा (जो आगे चलकर आयरिश गणतन्त्र का राष्ट्रपति भी बना) बैरी व आयरिश क्रांतिकारियों के बीच गुप्त समाचार पहुंचाने का काम करता था। बैरी की पत्नी और बेटी मेरी तो यूं भी सावरकर से बहुत स्नेह करती थीं। उनके यहां जब भी कोई विशेष पकवान बनता तो किसी न किसी बहाने सावरकर को अवश्य देकर आतीं। यहां तक कहा जाता है कि सावरकर के पांडित्य से प्रभावित होकर ही कु० मेरी ने बैरी की मृत्यु के बाद अंडमान नहीं छोड़ा। 1942 के जापानी आक्रमण तक वह यहीं रहकर अध्यापन कार्य करती रही। इतना ही नहीं, वह अक्सर विद्यालय के बच्चों को लेकर अंडमान जेल जातीं व सावरकर के कक्ष में जाकर उनके बारे में बतातीं। यह बात उन्हीं के एक शिष्य पोर्ट ब्लेअर के श्री गौरीशंकर पांडे ने बताई।

उन्होंने दो जांबाज़ सहयोगियों को मोरक्को की ओर से लड़ने भेजा। इनमें से एक थे सुखसागर दत्त, जो अगले अध्याय में वर्णित अलीपुर बम केस से सम्बद्ध उल्हासकर दत्त के छोटे भाई थे। यही उल्हासकर दत्त अंडमान में भी सावरकर के साथ बन्दीगृह में थे। सुखसागर दत्त को जो बन्दूक सावरकर ने दी, उसकी भी कहानी बड़ी रोचक है। वास्तव में यह बन्दूक अंग्रेज़ साहित्यकार डेविड गार्नेट की थी। पर डेविड ने भी इसे स्वयं नहीं खरीदा था। यह 'विनचेस्टर' राइफल दर-असल उन्हें भी आयरलैंड के प्रख्यात लेखक जॉन गाल्सवर्दी ने भेंट की थी। दूसरे शूरवीर थे नाभा के आर० एम० खान, जिनकी चर्चा हम 1857 की स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर कर चुके हैं। उनके हौसले बुलन्द होते हुए भी सितारे पस्त थे। पद्मनाभन ने इस घटना का उल्लेख इस प्रकार किया है[1]—"मोरक्को व स्पेन में युद्ध जारी था। अय्यर ने निर्णय लिया कि तीन वीर भारतीयों को इस युद्ध में भेजा जाए, चाहे वे किसी भी ओर से लड़ें, क्योंकि मुख्य बात तो उन्हें युद्ध-कला का प्रशिक्षण दिलवाना था। सुखसागर दत्त, आर० एम० खान व एम० पी० टी० आचार्य नामक इन तीन सैनिकों के प्रशिक्षण, वर्दी व शस्त्रों पर काफी पैसा खर्च किया गया। युद्ध पर जाने से पूर्व उन्हें भाव-भीनी विदाई दी गई। अगले सात मास अजब पसोपेश में गुज़रे। एक उदास शाम को इनमें से दो योद्धा वापिस लौटे। उनके चेहरे मलिन थे। हाल खस्ता और कपड़े तार-तार। लगता था, उनमें अपनी बन्दूक उठाने की भी क्षमता नहीं बची थी। अपनी व्यथा-कथा सुनाते हुए उन्होंने बताया कि उन्हें दोनों पक्षों में से किसी ने भी अपनी ओर नहीं लिया, क्योंकि दोनों ही उन पर विपक्ष का भेदिया होने का संदेह करते रहे। और तो और, उन्हें साधारण सिपाही के रूप में भी लड़ने की आज्ञा नहीं मिली। सात महीने तक इधर-उधर भटकते रहने के बाद, और लगभग 300 पौंड खर्च करके वे थके-मांदे वापिस लौट आए।"

पर इससे सावरकर तनिक भी विचलित नहीं हुए। भाग्य के अनिश्चित उतार-चढ़ाव से भली-भांति परिचित और तदनुसार किसी भी स्थिति से निबटने के लिए सदैव कटिबद्ध सावरकर ने कभी निरुत्साहित होना नहीं सीखा था। निराशा में आशा, पराजय में विजय और असफलता में सफलता की खोज ही उनका मूल जीवन-मंत्र था। 'प्रत्येक पराजय ही जय की एक सीढ़ी है,' मैज़िनी द्वारा 'युवा-इटली' को दी गई इस दीक्षा का उल्लेख सावरकर ने अपने मैज़िनी-चरित्र में बार-बार किया है। अब वह और भी अधिक अस्त्र-शस्त्र जुटाने की योजना बनाने लगे। सामाजिक, साहित्यिक व राजनैतिक गतिविधियों के अति-

1. "वी० वी० एस० अय्यर", पृ० 20.

रिक्त उन्हें जो भी समय मिलता, वह इंडिया हाउस के पिछवाड़े बनी छोटी-सी प्रयोगशाला में बिताते। पद्मनाभन के शब्दों में[1]—

"इंडिया हाउस के पीछे ये लोग चुपचाप बम बनाने का अभ्यास करते। अभिनव भारत की सभाओं में कभी-कभी सावरकर कुछ ही समय के लिए आ पाते। ऐसे अवसरों पर उनके हाथ रसायनों से पीले होते। इसके अतिरिक्त ये लोग शस्त्र खरीदकर चुपचाप भारत भेज देते। 'बम मैन्युअल' भी इसी प्रकार भारत भेजा गया।"

इस बम मैन्युअल को पेरिस से प्राप्त करके लन्दन लाने और वहां से भारत भेजे जाने की रोमांचक कथा किसी भी सनसनीखेज़ जासूसी उपन्यास से कम नहीं।

बम मैन्युअल

हुआ यह कि लन्दन में पिस्तौल प्रशिक्षण की अनुकूल परिस्थितियां न होने के कारण सावरकर ने अपने दो साहसी सहयोगियों, हेमचन्द्र दास और सेनापति बापट को पेरिस भेजा ताकि वहां भूमिगत रूसी क्रांतिकारियों से बम बनाने की विधि का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त करें। यों कहने को वहां बहुत से नीम-हकीम क्रांतिकारी इस विधि में निपुण होने का दावा करते थे पर वास्तव में इनमें से अधिकांश अधकचरे एवं ठग थे। पर जिस रूसी प्रोफेसर ने हमारे इन दोनों भारतीयों को प्रशिक्षण दिया, उसने न तो कभी अपना नाम बताया और न ही कोई दाम लिया। कहते हैं कि वह सावरकर के नाम, उद्देश्य व साहित्यिक रचनाओं से इतना प्रभावित था कि उसने अपनी मूल पांडुलिपि ही उन्हें भेंट कर दी। वह चाहता तो उसके कितने ही पैसे ले सकता था। पर तभी एक और समस्या उत्पन्न हुई। पांडुलिपि रूसी भाषा में थी जो यह दोनों नहीं जानते थे। पर बापट ने इसका भी हल निकाल लिया। उसने कु० अमैय्या नाम की एक रूसी महिला से इसका अंग्रेज़ी में अनुवाद करवाया। अमैय्या उन दिनों बर्लिन में डाक्टरी का कोर्स कर रही थी और छुट्टियों में अपने माता-पिता से मिलने पेरिस आई थी। संयोग कहिए अथवा चमत्कार कि कु० अमैय्या ने भी सावरकर के विषय में काफी कुछ सुन रखा था अतः वह भी तुरन्त मान गई।

लन्दन लौटते ही अभिनव भारत के सदस्य दिन-रात इस मैन्युअल की अधिक से अधिक प्रतियां बनाने में जुट गए। अलीगढ़ के एक होतीलाल वर्मा के साथ इस तिगड्डे ने भारत में वितरण के लिए उसकी सैकड़ों प्रतियां तैयार कीं। एक से एक सतर्क और चौकन्ने अंग्रेज़ अफसरों की आंखों में धूल झोंकते हुए ये

1. "वी. वी. एस अय्यर", पृ० 22.

सभी हस्तपत्र सही-सलामत भारत पहुंच गए और सभी क्रांतिकारियों के अड्डों पर बांट दिए गए।

इस समय तक अभिनव भारत की शाखाएं बम्बई, पूना, नासिक से फैलकर कोल्हापुर, सतारा, ग्वालियर, बड़ौदा, अमरावती, यवतमाल, नागपुर व कई अन्य नगरों में फैल चुकी थीं। इस बम मैन्युअल की एक प्रति लोकमान्य तिलक[1] को भी दी गई थी।

बम मैन्युअल का उल्लेख आते ही हमें स्वर्गीय पंडित परमानन्द झांसीवाले का स्मरण हो आता है। उन्होंने स्वयं इन्हीं में से एक प्रति लेकर बम बनाने की विधि सीखी थी। अंग्रेज़ों ने तो उनके दल के साथियों को 'बम गोले वाले' ही कहना शुरू कर दिया था। दादा (परमानन्द जी) के अनुसार लगभग 50 पृष्ठों की इस सचित्र एवं आकर्षक पुस्तिका में सभी प्रकार के बम निर्माण व प्रयोग की विधि दी हुई थी। इसके अधिकांश चित्रों का छायांकन स्वयं हेम दा (हेमचन्द्र दास) ने किया था जो कुशल फोटोग्राफर भी थे।

बम विधि की कथा सुनाते-सुनाते दादा ने यह भी बताया कि वह हेम दा से अडमान में मिले थे जहां उन्हें अलीपुर बम केस में बन्दी बनाकर भेजा गया था। स्वामी विवेकानन्द के कट्टर भक्त, पढ़ाकू और गम्भीर चिन्तक हेम दा को अंडमान के पुस्तकालय का संचालन सौंपा गया था। उन्हें जेल के अंग्रेज़ अफसर भी मान से 'हेम बाबू' कहते थे। खुशमिजाज़ और मस्त हेम दा की संगीत में भी रुचि थी, विशेषकर लोकगीतों में। अपनी इस प्रतिभा से वह हताश बन्दियों का मनोरंजन करते। लोगों की नकलें उतारना और उन पर हंसाइयां गढ़ना उनकी एक बड़ी विशेषता थी। कभी-कभी वह वहां के गुस्सैल, थुलथुल और तोंदल जेलर बैरी की चाल-ढाल की नकल करते और कभी वहां के सड़ियल खाने में से कोई धागा, कंकर, बाल या कीड़ा उठाकर उत्तर प्रदेश के एक बहुप्रचलित लोकगीत की पंक्ति ठुमक-ठुमक कर गाने लगते—"लटकनियां हमारी दही में गिरी।"

दादा स्वयं भी अच्छा गा लेते थे। वह साहसी इतने थे कि लाहौर षड्यन्त्र-अभियोग में अपने लिए मृत्यु-दण्ड सुनते ही उनके मुख से बेसाख्ता ग़ालिब का यह मशहूर शेर फूट पड़ा, जिसे वह कचहरी में ही ज़ोर-ज़ोर से गाने लगे—

ये न थी हमारी किस्मत कि विसाले यार होता,
अगर और जीते रहते, यही इन्तज़ार होता।

अभी शेर का दूसरा मिसरा पूरा ही हुआ था कि एक अन्य स्वर उनके स्वर से जुड़ गया। संयोग यह कि यह व्यक्ति भी उन्हीं का नामराशि भाई परमानन्द

---

1. आर० सी० मजुमदार : 'स्ट्रगल फॉर फ्रीडम', खण्ड 11, पृ० 204.

जी थे, जिन्हें स्वयं भी इसी अभियोग में यही दण्ड मिला था। बाद में दोनों को आजीवन कारावास देकर अंडमान भेज दिया गया। इन दोनों परमानन्दों और हेम दा ने उस नारकीय अंडमान में भी अपने स्वर, विनोद वृत्ति व साहस से कैसा रोमांच पैदा किया होगा, इसकी तो बस कल्पना ही की जा सकती है। 'मेरा अंडमान का प्रिय प्रवास' (माझी जन्मठेप) नामक अपनी आत्मकथा में सावरकर जी ने लिखा है कि कैसे एक सुबह उन्होंने अपने पड़ोस की कोठरी से किसी व्यक्ति को गीता के श्लोक गुनगुनाते हुए सुना। यह जानकर कि यह व्यक्ति उनके लन्दन का सहयोगी भाई परमानन्द है, वे भावोन्माद से विह्वल हो उठे।

1908

एक ऐतिहासिक ग्रन्थ की रचना

यदि यह मान लिया जाए कि राजनीति भी शतरंज का खेल है—और ऐसा है भी तो वर्ष 1908 में यह खेल अपने सर्वोच्च स्तर पर खेला गया। मोटे तौर पर ये खिलाड़ी थे भारत और बर्तानिया पर निकटतम रूप से इन मोहरों की उठा-पटक और शह मात चल रही थी इंडिया हाउस और भारत कार्यालय के बीच। बम-विधि को जिस सुघड़ता के साथ पेरिस से भारत तक लाया गया वह भारतीय क्रान्तिकारियों द्वारा अंग्रेज़ जासूसों को करारी मात थी। यह बात और है कि भारत में इसका प्रथम प्रयोग ही निष्फल सिद्ध हुआ।

अलीपुर बम-कांड

7 अप्रैल, 1908 को सेनापति बापट ने बंगाल जाकर वहां के चोटी के क्रान्तिकारी प्रफुल्ल चक्रवर्ती, वारीन्द्रनाथ घोष व नरेन्द्र गोसाईं से भेंट की। मानिकतल्ला के मुरारीपुकुर के उद्यान-भवन में बम बनाने का कार्य आरम्भ हुआ। योजनानुसार 30 अप्रैल को खुदीराम बोस ने बिहार के मुज़फ्फरनगर में पहला बम फेंका। इसका निशाना मुख्य प्रेज़िडेंसी न्यायाधीश किंग्सफोर्ड को बनाया गया था (वह भारतीय क्रान्तिकारियों की चमड़ी उधेड़ने के लिए कुख्यात था।) पर दुर्भाग्यवश यह उसी समय बराबर से गुज़रती हुई दूसरी गाड़ी पर जा गिरा। इसमें बैठी दो अंग्रेज़ महिलाएं श्रीमती पिंगले कैनेडी और उनकी बेटी ग्रेस कैनेडी वहीं ढेर हो गईं।

इस घटना से देश में कोहराम मच गया। ज़बरदस्त धर-पकड़ शुरू हो गई। प्रफुल्ल चाकी ने काबू आने से पूर्व ही स्वयं को गाली मार ली। हां, खुदीराम व उनके साथी 2 मई को पकड़े गए। 19-वर्षीय खुदीराम बोस ने सारे कांड का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया, साथ ही उन निर्दोष स्त्रियों की मृत्यु पर खेद व्यक्त किया। उसी वर्ष 11 अगस्त को हाथ में भगवत्गीता लिए और वन्दे मातरम् का नारा लगाते हुए वह फांसी के तख्ते पर झूल गए। नरेन्द्र गोसाईं ने मुखबिर बनकर बहुत से भेद उगल दिए। बाद में खुदीराम के दो अन्य साथियों, कन्हाई लाल दत्त और सत्येन बोस ने किसी बहाने अलीपुर जेल में जाकर उसका मुंह सदा के लिए बन्द कर दिया। इन दोनों को भी नवम्बर में फांसी हो गई। जिस मान व शान से इनका अन्तिम संस्कार किया गया, उसे देखकर बड़े-बड़े

शूरवीरों को भी ईर्ष्या हुई होगी । कहते हैं, उस दिन सारा बंगाल आंसुओं में डूब गया था ।

अन्धाधुन्ध धर-पकड़ का यह सिलसिला देर तक जारी रहा । गिरफ्तारियों की लपेट में आने वालों में उल्हासकर दत्त, हेमचन्द्र दास, इन्दुभूषण राय, उपेन्द्र नाथ बनर्जी तथा श्री अरविन्द के छोटे भाई वारीन्द्रनाथ घोष भी थे । कलकत्ता उच्च-न्यायालय में इन पर मुकदमा चल ही रहा था कि भरी अदालत में सरकारी वकील और पुलिस उपाध्यक्ष को भून दिया गया । जनाक्रोश इतना बढ़ चुका था कि इस घटना के आगे-पीछे कलकत्ता के आस-पास अफसरों को मारने, बम फेंकने, गाड़ी लूटने व सरकारी खज़ाने लूटने की लगभग एक दर्जन घटनाएं हुईं ।

वायसराय लार्ड मिन्टो की हालत बेढब थी । क्रोध और प्रतिशोध से जैसे उसे मिर्गी के दौरे पड़ने लगे । उसने तत्काल भारतीय दण्ड-विधान में संशोधन का आदेश दिया । इसके अनुसार विस्फोटक पदार्थ व समाचार-पत्रों के विरुद्ध एक ही दिन में 8 जून को दो नियम पारित करवा दिए गए ।

संशोधन का आशय यह था कि जिस किसी भी व्यक्ति के पास विस्फोटक पदार्थ पाए जाएं, अथवा जो भी लेखक, वक्ता या सम्पादक सत्ता के विरुद्ध एक भी शब्द बोले, उसे उसी समय बन्दी बनाकर और तत्काल मुकदमा चलाकर एक से चौदह वर्ष का कठोर कारावास दिया जाए । इस नियम के अन्तर्गत जिन्हें गिरफ्तार किया गया, उनमें प्रमुख थे कलकत्ता से विवेकानन्द के भाई भूपेन्द्रनाथ दत्त (सम्पादक; 'युगान्तर'), अरविन्द घोष (सम्पादक, 'वन्दे मातरम्'), पृथ्वीगीर हरिगीर (सम्पादक, 'हरि किशोर,' यवतमाल), भास्कर विष्णु फड़के (सम्पादक, 'विहारी,' बम्बई), शिवराम पन्त परांजपे (सम्पादक, 'काल,' पूना), और इन सबसे ऊपर सावरकर के गुरु 'केसरी' के सम्पादक लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक । लन्दन जाने से पूर्व सावरकर नियमित रूप से 'विहारी', 'काल' व 'केसरी' के लिए लेख लिखते थे । तिलक को 22 जून के 'केसरी' में खुदीराम बोस पर एक लेख लिखने के लिए 6 वर्ष का कठोर करावास देकर बर्मा की मांडले जेल भेज दिया गया । यह 22 जुलाई की बात है जिस दिन तिलक की 51वीं वर्ष गांठ थी ।

तिलक के निष्कासन के समाचार से न केवल भारत में वरन् विदेश के भारतीयों में भी रोष और आक्रोश फैल गया । बम्बई के श्रमिकों ने तत्काल हड़ताल कर दी और एक विशाल जुलूस निकाला । पुलिस के अनुचित हस्तक्षेप से भीड़ बेकाबू होकर हिंसा पर उतारू हो गई । पुलिस ने गोली चलाई जिससे पन्द्रह व्यक्ति वहीं मर गए और सैकड़ों घायल हो गए । कलकत्ता के 'वन्दे मातरम्' ने इस जनरोष को इन शब्दों में व्यक्त किया —

"जब किसी व्यक्ति को देशभक्ति की सर्वोच्च भावना के लिए कठोर कारा-

वास का दण्ड दिया जाए तो भला किसका दिल नहीं दहलेगा। यह ठीक है कि समय के साथ-साथ यह जख्म भी भर जाएगा। पर एकदम इतनी बड़ी घटना को भूल जाना या झेल पाना सम्भव नहीं।"

अगले ही दिन 23 जुलाई को लेनिन ने 'प्रोलेतरी' में इस घटना की इन शब्दों में निन्दा की—

"हर्ष की बात है कि भारत के जनसाधारण में भी अपने लेखकों और नेताओं के प्रति राजनैतिक चेतना पनप रही है। यही कारण है कि अंग्रेज़ गीदड़ों द्वारा तिलक के अन्यायपूर्ण निष्कासन पर वहा की जनता को विरोध प्रदर्शन व हड़ताल करनी पड़ी।[1]"

लन्दन में भी इस घटना को लेकर मिश्रित प्रतिक्रिया हुई। इस संदर्भ में 'मैनचेस्टर गार्जियन' का दबंग सम्पादकीय उल्लेखनीय है—

"जिस ढंग से तिलक को दण्डित किया गया है, वह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि सरकार किसी भी तरह उन्हें अपने रास्ते से हटाने पर तुली हुई है। कहने को यह दण्ड उनके गलत आचरण को देखकर दिया गया है, पर गहराई में इसका अर्थ यह है कि भारत की जनता तिलक का आदर करती है और तिलक उनकी भावनाओं को जब और जिधर चाहें मोड़ सकते हैं।"

सरकार के इरादों से आशंकित पत्र ने चेतावनी दी—

"श्री तिलक 51 वर्ष के हो चुके हैं। सम्भव है, वह अपना कारावास समाप्त करके लौट ही न पाएं। पर उन पर लगाए गए अभियोग और दण्ड से जो कटुता और तनाव उत्पन्न हो गया है, उसे ठंडा करने में सरकार को बहुत समय लगेगा। बिना इसके अंग्रेज़ों के सारे सुधार-प्रयास निरर्थक हैं।"

उधर, तिलक की गिरफ्तारी से पहले भी पत्रकारों की धर-पकड़ हो रही थी। इसकी चपेट में आनेवाले लोग थे, 'विहारी' के नए सम्पादक, आर० एम० माण्डलिक; 'सण्डे' (थाना) के धोंडोपंत फड़के; 'स्वराज्य' (शोलापुर) के बलवन्तराय लिमये; 'संदेश' (नागपुर) के अच्युत बलवंत कोल्हटकर व 'हरिकिशोर' के सम्पादक एन० वी० भावे।

इन सब लोगों पर भी मुख्य आरोप यही था कि ये सभी सावरकर के अभिनव भारत से मिले हुए थे, जिनके सदस्यों ने बम्बई में अंग्रेज सरकार का तिलक सम्बन्धी एक गुप्त समाचार हथिया लिया था। आर० सी० मजुमदार के शब्दों में—"1908 का यह काल-खण्ड अंग्रज़ों की काली करतूतों से भरा 'काला वर्ष' था।"[2]

---

1. मन्मथनाथ गुप्त : 'इण्डियन रिवोल्यूशनरी मूवमेन्ट', पृ० 6.
2. 'स्ट्रगल फार फ्रीडम', खण्ड 11, पृ० 110.

यह देश : यह देशद्रोही

सावरकर ने एक स्थान पर कहा है—"देशद्रोहियों की अग्रिम पंक्ति में खड़े होने से कहीं अच्छा है कि देशभक्तों की अन्तिम पंक्ति में खड़ा हुआ जाए।" शोध-कार्य के लिए यह एक अछूता विषय होगा यदि कोई इतिहास-अन्वेषी मुखबिरों, गद्दारों व देशद्रोहियों की एक सूची तैयार करे और इस बात पर प्रकाश डाले कि देश को जितनी हानि इन स्वदेशियों ने पहुंचाई है, उतनी हमारे विदेशी शत्रुओं ने भी नहीं। इतिहास ऐसे दृष्टांतों से भरा पड़ा है। यह भी उसी कुटिल शृंखला की ही एक कड़ी थी कि स्वतंत्रता के लिए तन-मन-धन न्यौछावर कर देने वाले स्वातंत्र्य वीर सावरकर पर भी स्वतंत्र भारत की सरकार ने ही उन्हें 'गांधी-हत्या' के अभियोग में लपेटकर उन पर मुकदमा चलाया। एक वर्ष तक बन्दी बनाकर उन्हें तरह-तरह की शारीरिक व मानसिक यातनाएं दीं। यह भी याद रहे कि इस समय सावरकर की आयु 65 वर्ष की थी और वे विविध रोगों से लगभग शैय्या ग्रस्त थे।

अलीपुर बम-काण्ड में भी लगभग ऐसा ही हुआ। सारी गिरफ्तारियों से सम्भवतः इतना नुकसान नहीं हुआ, जितना एक मुखबिर की केवल इस एक बात से कि बम-मैन्युअल को भारत लाने वाले सेनापति बापट लन्दन से ही सावरकर के अभिन्न मित्र हैं और यह भी कि वह सावरकर के अनुरोध पर ही उसे पेरिस से लाए थे। यह अलग बात है कि अपने नाम के अनुरूप 'सेनापति' इसके बाद भी सरकार के हत्थे नहीं चढ़े। पर उधर लन्दन में इंडिया हाउस पर अंग्रेज़ी फंदा और भी कसता गया।

पता नहीं, कुछ लोग जाने किस धातु के बने होते हैं कि उन्हें किसी भी प्रकार का भय, चुनौती या संकट न डरा सकता है, न डिगा सकता है। इसके विपरीत ज्यों-ज्यों खतरे का पानी ऊपर चढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उनमें इससे जूझने की सामर्थ्य भी उतनी ही अधिक बलवती होती जाती है। सावरकर भी उन्हीं अनूठे व्यक्तियों में थे, जिनकी प्रतिभा प्रतिकूल परिस्थितियों में और भी निखर उठती है।

यह बात हम पहले भी कह चुके हैं कि इंडिया हाउस को निरन्तर डसने वाले अंग्रेज जासूस नागों से सचेत होकर सावरकर ने तेजी से अपनी राजनीति में फेर-बदल की। उनके प्रचार एवं प्रसार का कार्य लन्दन से अधिक विदेशों में हो रहा था। पर इसका अर्थ यह नहीं कि लन्दन के भारतीय पूरी तरह से निष्क्रिय पड़े थे। वास्तव में यह वह खामोशी थी जो तूफान से पहले होती है।

और यह तूफान उठा उसी ऐतिहासिक 10 मई को जिसकी प्रतीक्षा सावरकर हर वर्ष आतुरता से किया करते थे। हर वर्ष की भांति इंडिया हाउस में एक

सभा का आयोजन हुआ। इसके लिए जो निमंत्रण-पत्र छपे, वह भी प्रतिशोध व क्रान्ति की प्रतीक लाल स्याही में थे। 'द टाइम्स' ने उसे 'लाल दस्तावेज़' की संज्ञा दी व हूबहू अपने पत्र में प्रकाशित भी किया—

"1857 के भारतीय राष्ट्रीय जागरण की स्मृति में रविवार, 10 मई, 1908, अपराह्न चार बजे इंडिया-हाउस—65, क्रामवेल एवेन्यू, हाईगेट, उत्तरी लन्दन में भारतीयों की एक विराट सभा होगी। आप और आपके सभी भारतीय मित्र सादर आमंत्रित हैं।"

इस कार्ड की दूसरी ओर कार्यक्रम का विस्तृत विवरण भी था :

(अ) राष्ट्रीय प्रार्थना; बहादुरशाह जफ़र, श्रीमन्त नानासाहब, रानी लक्ष्मीबाई, मौलवी अहमदशाह, राजा कंवरसिंह व अन्य हुतात्माओं को श्रद्धांजलियां।

(ब) व्रत-उपवास रखने का निर्णय व संयमपूर्ण जीवन बिताने का संकल्प।

(स) अध्यक्षीय भाषण।

(द) राष्ट्रीय गीत व प्रसाद वितरण।

सभा का शुभारम्भ मदाम कामा के उसी स्टटगार्ट वाले ध्वजारोहण से हुआ। लगभग चार घण्टों तक चलती रहने वाली इस सभा में चिकित्सक, प्राध्यापक, विद्यार्थी, व्यवसायी व अन्य वर्गों के लगभग 200 भारतीय उपस्थित थे। सभा-समापन पर लोगों के भाल पर चन्दन लगाया गया व प्रसाद बांटा गया। लोगों ने हुतात्माओं के कोष के लिए दिल खोलकर चन्दा दिया। सभा का सबसे ओजस्वी कार्यक्रम था सावरकर द्वारा पढ़ा गया 'हे हुतात्माओ' शीर्षक का वह लेख जो विशेष रूप से इसी दिन के लिए लिखा गया था। इस क्रान्तिकारी लेख को लेकर मिली-जुली प्रतिक्रिया हुई। एक ओर जहां अंग्रेज़ी समाचार पत्रों ने इसे 'प्रतिशोधपूर्ण', 'देशद्रोहयुक्त', उकसाऊ', 'दिशाभ्रामक' आदि विशेषणों से सम्बोधित किया, वहां दूसरी ओर आयरलैंड के पत्रों ने इसे 'देश-भक्ति का महा-काव्य' कहा। न्यूयार्क के ही एक अन्य आयरिश पत्र 'गैलिक अमेरिकन' ने इसे 'नस-नस में क्रान्ति की चेतना फूंक देने वाला' सन्देश कहा। चट्टानों को चीरने, पत्थर को पिघलाने, पानी में आग लगा देनेवाले और मृत में भी प्राण फूंक देने वाले इस मूल अंग्रेज़ी लेख का एक अंश इस प्रकार है—

"वह भारतीय स्वातंत्र्य समर, जिसका उद्गम 10 मई 1857 को हुआ, आज दिनांक 10 मई 1908 को समाप्त नहीं हुआ है, और यह तब तक समाप्त नहीं होगा जब तक ऐसी 10 मई नहीं आती जब इस महाक्रान्ति की सम्पूर्ण लक्ष्य-प्राप्ति न हो जाय, अर्थात् जिस दिन भोर की पहली किरण सम्पूर्ण स्वाधीनता के इस स्वप्न को साकार न कर दे, और जब तक भारत मां के भाल पर उन मणियों

का मुकुट न सुशोभित हो, जो या तो विजय की ज्योति से जगमगा रहा हो या फिर हुतात्माओं के रक्तिम आभा मंडल से।"

वास्तव में 1907 में मनाई गई 1857 की स्वर्ण-जयन्ती के बाद से ही (जिसमें सावरकर ने तथाकथित 'गदर' की कुसंज्ञा को नकारते हुए उसे 'स्वातंत्र्य समर' के नाम से सम्मानित किया था) सावरकर इस महान घटना का सच्चा और सविस्तार इतिहास लिखने के लिए अधीर हो रहे थे। उनके मस्तिष्क में इस ऐतिहासिक क्रान्ति को लेकर ऐसा ग्रन्थ रचने की परिकल्पना थी जिसमें इस घटना के कारणों व परिणामों की निष्पक्ष विवेचना और व्याख्या हो सके।

ठीक इसी समय लन्दन में तिलक के कारावास का दुखदायी समाचार पहुंचा। यह वही समय था जब उदारवादी नेता गोपालकृष्ण गोखले भी मार्ले-मिन्टो सुधारों के सम्बन्ध में बातचीत करने लन्दन ही आए हुए थे। एक अन्य विख्यात इतिहासकार और भूतपूर्व आई० सी० एस० पदाधिकारी रमेशचन्द्र दत्त भी वहीं थे। सावरकर के लिए यह अच्छा अवसर था। वे अपने दो सहयोगी, वी० वी० एस० अय्यर व डॉ० राजन को लेकर गोखले से मिलने गए, और उनसे प्रार्थना की कि तिलक के साथ हुए अन्याय के विरोध में होने वाली सभा की अध्यक्षता स्वीकार करें। पर उन्हें इस बात से केवल आश्चर्य ही नहीं, घोर निराशा भी हुई कि तिलक की तरह मराठी चितपावन ब्राह्मण व उसी रत्नगिरि के जन्मे गोखले ने इस निमन्त्रण को दो टूक ठुकरा दिया। वार्तालाप के मध्य जिन अन्य विषयों पर चर्चा हुई उनमें एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी थी कि भारत का इतिहास निष्पक्ष दृष्टि से फिर लिखा जाए। सावरकर का मत था कि अब तक अधिकांश भारतीय इतिहास या तो विदेशियों द्वारा लिखा गया है या किराये-भाड़े के खुशामदी टट्टुओं द्वारा। इसमें केवल शासकों की झूठी प्रशंसा और लल्लो-चप्पो है, अतः यह मिथ्या एवं भ्रमपूर्ण है। आवश्यकता इस बात की है कि इतिहास को राष्ट्रीय दृष्टिकोण से लिखा जाए। अपने तर्क की पुष्टि में उन्होंने 1857 की गौरवपूर्ण क्रान्ति का उदाहरण प्रस्तुत किया जिसे अंग्रेज़ इतिहासकारों ने केवल मुट्ठी भर सैनिकों का 'विद्रोह' या 'गदर' कहकर इतिहास की खिल्ली उड़ाई है। वहां उपस्थित दो अन्य इतिहासकार रमेशचन्द्र दत्त व के० पी० जायसवाल को सावरकर का यह तर्क एकदम खरा लगा पर गोखले इससे भी सहमत नहीं हुए।

गोखले की निरन्तर दो असहमतियों से लन्दन के भारतीय क्रान्तिकारियों को गहरा धक्का लगा। उनमें से कुछेक तेज मिज़ाजों ने तो गोखले के इस ढुलमुल व्यवहार से क्षुब्ध होकर उनका सफाया करने की योजना भी बना डाली। पर सावरकर ने उन्हें ऐसा 'पागलपन' करने से रोका। तिलक सम्बन्धी सभा निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार कैक्सटन हाल में हुई। 'इंडिया होमरूल

सोसाइटी' के जे० एम० पारीक ने इसका अध्यक्ष पद सम्भाला। सभा में तिलक के दण्ड एवं निष्कासन की आलोचना के अतिरिक्त एक विशेष प्रस्ताव पारित किया गया, जिसमें गोखले के 'कायरतापूर्ण' व्यवहार की आलोचना की गई।

मार्ले ने स्वयं भी लार्ड मिन्टो को दी गई रिपोर्ट में गोखले को इतने बड़े राजनैतिक दल के नेता के रूप में केवल 'रिरियाता हुआ बच्चा' ही कहा था। उन्हीं के शब्दों में—"जहां एक महत्त्वाकांक्षी नेता की आवाज़ में अकड़ और दम होना चाहिए, वहां गोखले के स्वर में एक हल्के नेता वाली गिड़गिड़ाहट थी।"[1]

गोखले की दूसरी असहमति को सावरकर कभी नहीं भुला पाए। इतिहास के पुनर्लेखन की बात उनके मन में फांस बनकर धंसती गई। अन्ततः उन्होंने स्वयं ही इस कार्य का बीड़ा उठाया और जी-जान से इस कार्य में जुट गए।

अब उनका अधिकांश समय विशाल इंडिया आफिस पुस्तकालय में ही बीतता। यहां आकर अध्ययन के लिए उन्हें विशेष प्रवेश आज्ञा भी एक अंग्रेज़ महिला ने दिलवाई जो वहीं के एक बंगाली प्रबन्धक श्री मुखर्जी की पत्नी थीं। सावरकर दिन-रात पुस्तकों और फाइलों के ढेर में डूबे रहते। विश्वास किया जाता है कि इस क्रान्ति से सम्बद्ध उस पुस्तकालय में शायद ही कोई दस्तावेज़ हो जो सावरकर की नज़र से न गुज़रा हो। इतिहास ग्रन्थ, डायरी, यात्रा-वर्णन, सैनिक-पत्राचार, युद्ध-सन्धियों के ब्यौरे, चित्र-मानचित्र, अदालती कार्यवाहियां, समाचार पत्रों की कतरनें और भी न जाने क्या-क्या! डेढ़ वर्ष जी-तोड़ परिश्रम करते हुए सावरकर ने लगभग 1500 संदर्भ-ग्रन्थों का अध्ययन किया। अन्ततः जो ग्रन्थ प्रकाश में आया, उसने विश्व में हलचल मचा दी। इतिहास की इस ऐतिहासिक पुस्तक का 'रचना इतिहास' भी कितना रोमांचक है। इसके लिए स्वयं सावरकर द्वारा लिखित भूमिका एवं इसके प्रथम हिन्दी अनुवादक पुणे के पंडित गणेश रघुनाथ वैशम्पायन द्वारा विक्रमी संवत् 2003 में प्रकाशित पुस्तक के इतिहास एवं ग्रन्थ के कुछेक प्रेरक प्रसंगों का उद्धरण आवश्यक है।

मूल हिन्दी का अनुवाद कुछ-कुछ मराठी-निष्ठ होने के कारण हम इसका परिमार्जित हिन्दी भाषान्तर, 'राजधानी ग्रन्थागार' द्वारा प्रकाशित 'सावरकर जन्म शताब्दी संस्करण' से प्रस्तुत कर रहे हैं।

समर्पण एवं प्रथम संस्करण में लेखक की भूमिका

स्वधर्म तथा स्वदेश की स्वतंत्रता के लिए लड़ते-लड़ते मरण का वरण करने वाले हे वीरो! यह कृतज्ञ इतिहास तुम्हारी पावन स्मृति में ही समर्पित है। स्वदेश के लिए युद्ध करने को सिद्ध हुए वीरो, तुम कौन थे? तुम्हारे नाम क्या

1. धनंजय कीर: 'वीर सावरकर', पृ० 45.

थे ? साधना की उज्ज्वल ज्योति तुम्हारे हृदय में प्रदीप्त हो उठने पर तुम्हारा नेतृत्व करनेवाला वह वीर कौन था, जिसने तुम्हें इस भयंकर रण की प्रेरणा दी थी ? हमारा कितना दुर्भाग्य है कि मानवता की सेवा के लिए अपने प्राणों को समर्पित करनेवालो, तुम्हारे नाम और तुम्हारा ठांव भी हमें विदित नहीं ! तो फिर यह इतिहास-रचना तुम्हारी गुमनाम स्मृति को ही समर्पित । विजय तुम्हारे हाथों से भले ही निकल गई हो, किन्तु तुमने अपनी आन और सम्मान तथा यश पर आंच नहीं आने दी ! तुम्हारा रक्त भूतकाल की तिलांजलि और आगामी वीरों के लिए संजीवनी सिद्ध हो । तुम्हारे पराक्रम से अतीत की कीर्ति को चार चांद लगें और वह भविष्य की प्रेरणा तथा चैतन्य की निधि बने, यही आकांक्षा है ।

—वि० दा० सावरकर

भूमिका

50 वर्ष व्यतीत हो चुके हैं । परिस्थितियां भी बदल गई हैं तथा दोनों पक्षों के प्रमुख अभिनेता भी काल कवलित हो चुके हैं । अब 1857 का युद्ध प्रचलित राजनीतिक क्षेत्र की सीमाओं को पार कर गया है, अतः उसे इतिहास की श्रेणी में स्थान देना ही उपयुक्त होगा ।

उपरोक्त दृष्टि से जब मैंने 1857 के 'विद्रोह' के भव्य और महान दृश्य का सूक्ष्म निरीक्षण करना आरम्भ किया तो मैं आश्चर्यचकित रह गया । मैंने देखा कि दिवंगत वीरों की आत्माएं शहादत के तेज और आशा से प्रदीप्त हो रही थीं । मुझे उनके भस्मावशेषों में प्रेरणा के स्फुलिंग परिलक्षित हुए । इतिहास के एक नितान्त उपेक्षित कोने में गहराई से दबा दिए गए इस दृश्य को देखकर मेरे देशबन्धु भी निराशा का अनुभव ही करेंगे । किन्तु वह निराशा नितान्त ही मधुर होगी । मैं खोज की किरणों के द्वारा उस समय का वास्तविक दृश्य अपने देशवासियों के समक्ष प्रस्तुत करूंगा । इसी भावना सहित मैं चेष्टारत रहा और आज मैं भारतीय पाठकों के समक्ष 1857 की घटनाओं का महत्त्वपूर्ण और रोमांचकारी चित्र प्रस्तुत करने में समर्थ हो पाया हूं ।

जिस राष्ट्र को अपने अतीत के सम्बन्ध में ही वास्तविक ज्ञान न हो, उसका कोई भविष्य भी नहीं होता । किन्तु जहां यह तथ्य है, वहां यह भी एक महान सत्य है कि किसी राष्ट्र को अपने गौरवपूर्ण अतीत की मस्ती में ही लिप्त न रहते हुए भविष्य को संवारने की दृष्टि से भी उसका उपयोग करने की क्षमता संपादित करनी अपेक्षित है । किसी राष्ट्र को अपने देश के इतिहास का दास नहीं, अपितु स्वामी बनना चाहिए, क्योंकि अतीत के कार्यों की पुनरावृत्ति महत्त्वपूर्ण होने पर भी वज्रमूर्खता ही है । छत्रपति शिवाजी के समय में मुसलमानों के प्रति द्वेष-

भावना न्यायपूर्ण भी थी और आवश्यक भी। किन्तु केवल उसी स्थिति को आधार बनाकर आज भी उसी द्वेष-भावना को पनपाना मूर्खता ही होगी।

इस ग्रन्थ में मैंने जो प्रमाण प्रस्तुत किए हैं, वे प्राय: अंग्रेज़ लेखकों द्वारा लिखित विवरणों से ही लिए गए हैं। अपने पक्ष के क्रियाकलाप का विवरण उन्होंने जिस विस्तार तथा श्रद्धासहित किया है, उतनी ही निष्क्रियता सहित दूसरे पक्ष के क्रियाकलाप का विवरण प्रस्तुत करने का न्याय उनके द्वारा प्रदर्शित किया जाना असम्भव था। यह भी सम्भव है कि इस ग्रन्थ में वर्णित अनेक प्रसंग त्रुटिपूर्ण ढंग से उल्लिखित हुए हों, तो अनेक आवश्यक प्रसंगों का उल्लेख करना रह भी गया होगा। किन्तु आज भी यदि कोई देशभक्त इतिहास-लेखक उत्तर भारत में जाकर उन लोगों से जानकारी उपलब्ध करे, जिन्होंने प्रलयंकर संग्राम को अपनी आंखों से देखा है अथवा जिन्होंने इसमें योगदान भी दिया है, तो आज भी उस महान युद्ध के सम्बन्ध में वास्तविक तथ्यों को सुरक्षित रखने के साधन उपलब्ध हो सकते हैं। यदि शीघ्रातिशीघ्र इस दृष्टि से प्रयास न किया गया तो फिर वे साधन उपलब्ध न हो सकेंगे। एक अथवा दो दशकों में इस युद्ध का दर्शन करने वाली अथवा सक्रिय योगदान देने वाली पीढ़ी ही लुप्त हो जाएगी। तब उन महान वीरों का साक्षात् दर्शन तो कर ही नहीं पाएंगे, हमारे लिए उनके कार्यों का पूर्ण विवरण भी इतिहास में प्रस्तुत कर पाना असम्भव हो जाएगा। क्या अत्यधिक विलम्ब हो जाने के पूर्व ही कोई देशभक्त इतिहासकार इस महान राष्ट्रीय क्षति को रोकने के लिए कृतसंकल्प नहीं होगा?

इस ग्रन्थ में जिन महत्त्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख किया गया है, उनमें से छोटी से छोटी घटना को भी प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर सिद्ध किया जा सकता है।

अन्त में मैं अपनी यह इच्छा व्यक्त कर देना भी अपना पावन कर्तव्य समझता हूं कि शीघ्रातिशीघ्र किसी भारतीय लेखक द्वारा 1857 की यह महान गाथा ऐसे ढंग से लिखी जानी चाहिए कि वह विस्तार से लिखित होने पर भी सुसंगत हो और देशभक्ति से ओत-प्रोत होने पर भी इतिहास की दृष्टि से प्रामाणिक हो। यह गाथा इतनी सुन्दर होनी चाहिए कि मैंने जो यह विनम्र ग्रन्थ रचना की है, लोग उसे शीघ्रातिशीघ्र विस्मृत कर दें।

विनायक दामोदर सावरकर

लन्दन,
10 मई, 1907

ग्रन्थ का रोमांचकारी इतिहास

'1857 का भारतीय स्वातंत्र्य समर' जिस प्रकार वस्तुस्थिति का विवरण

प्रस्तुत करने वाला रोमांचक इतिहास है, उसी प्रकार इस ग्रन्थ का अपना भी रोमांचकारी इतिहास है। ग्रन्थ के लेखक स्वर्गीय स्वातंत्र्य वीर सावरकर का महान जीवन-वृत्त तो अनेक अद्‌भुत प्रसंगों से परिपूर्ण रहा ही, किन्तु इस ग्रन्थ के लेखन और प्रकाशन की कहानी भी अद्‌भुत और अनुपम है। जिस प्रकार कंस की अत्याचारी सत्ता ने भगवान कृष्ण को जन्मते ही नहीं, वरन जन्म लेने से भी पूर्व हत्या कर देने का निश्चय किया था, उसी प्रकार ब्रिटिश शासन ने भी इस ग्रन्थ-रूपी कृष्ण को जन्म (मुद्रित होने) से पूर्व ही मार डालने की ठान ली थी। भगवान कृष्ण के समान इस ग्रन्थ को भी महाकाल की क्रूर दृष्टि से बचने के लिए दूर-दूर जाना पड़ा।

ग्रन्थ को लिखने के उद्देश्य का स्पष्टीकरण स्वयं वीर सावरकर ने ही 'अभिनव भारत' की ओर से 'तलवार' नामक पत्र में प्रकाशित अपने एक लेख में व्यक्त कर दिया था। यह पत्र पेरिस से प्रकाशित हुआ करता था। स्वातंत्र्य वीर सावरकर ने अपने इस लेख में लिखा था कि "स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए भारत एक बार पुनः उठे और पराधीनता से मुक्ति के लिए भारतीय जनता का स्वातंत्र्य युद्ध यशस्वी हो। यही '1857 का स्वातंत्र्य समर' नामक ग्रन्थ लिखे जाने का उद्देश्य है।" वीर सावरकर चाहते थे कि स्वातंत्र्य युद्ध की सफलता हेतु राष्ट्र पूरी तरह तैयार हो। इस कार्य के लिए जो संगठन तथा कार्यपद्धति क्रान्तिकारी दल के सदस्यों को अपनानी आवश्यक है, उसकी रूपरेखा इस ऐतिहासिक ग्रन्थ के माध्यम से प्रस्तुत की जाय। अतः इस ग्रन्थ में उन्होंने 1857 के क्रान्ति-युद्ध के पुरोधाओं के मुख से अपने विचारों और कार्यपद्धति का दिग्दर्शन जनता जनार्दन को कराया।

सन् 1907 में जिन दिनों स्वातंत्र्य वीर सावरकर ने ग्रन्थ की रचना की उन दिनों देश की परिस्थिति भी कम विपरीत न थी। क्रान्ति का खुला समर्थन करना तो दूर, इंडियन नेशनल कांग्रेस के नरमदलीय नेता इस शब्द का उच्चारण मात्र सुनने से घबराते थे। उस समय कांग्रेस के मंच से ब्रिटिश शासन के समक्ष झोली फैलाकर सुधारों की भीख मांगना ही पुनीत कार्य समझा जाता था। स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए क्रान्ति के शब्दों से भी उस समय के महान नेतागण परिचित नहीं थे। इस विपरीत परिस्थिति में भी भारत की तरुणाई के सुप्त पौरुष को जागृत करने के लिए ही सावरकर ने इस ग्रन्थ की रचना की थी। वीर सावरकर की यह निश्चित मान्यता थी कि सैनिकों और सैनिक विभागों में राष्ट्र-भक्ति की पावन ज्योति को जागृत किए बिना क्रान्ति का स्वप्न कदापि साकार नहीं हो सकता। इस ग्रन्थ की रचना से 50 वर्ष पूर्व हुए इस क्रान्ति समर के इतिहास ने यह तथ्य असंदिग्ध रूप में प्रस्तुत कर दिखाया कि हमारे महान पूर्वजों ने पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति के लिए अंग्रेजों की सेना के ही भारतीय सैनिकों का

सक्रिय ही नहीं, अपितु सशस्त्र सहयोग प्राप्त करने में भी सफलता प्राप्त की थी। उन्होंने भारत माता को पराधीनता की शृंखलाओं से मुक्ति दिलाने हेतु सशस्त्र संग्राम का आयोजन कर स्वातंत्र्य लक्ष्मी का जयजयकार किया था।

वीर सावरकर ने इस सत्य को हृदयंगम कर लिया था कि यदि 1857 के महान संग्राम के इतिहास को क्रान्तिकारी दृष्टिकोण से भारतवासियों के समक्ष प्रस्तुत किया जाएगा तो भारत की तरुणाई में एक नवीन जागृति और स्फूर्ति की लहर व्याप्त होगी और वह अंगड़ाई लेकर उठ बैठेगी। उसे इस बात का विश्वास हो जाएगा कि आज की स्थिति में 1857 के प्रयोग का पुन: परीक्षण ही स्वातंत्र्य आन्दोलन की सुनिश्चित सफलता का केन्द्र-बिन्दु सिद्ध होगा। भारतवासियों को उनके हृदय की भाषा में ही इस महान राष्ट्रीय संग्राम का विवरण वीर सावरकर ने इस महान ग्रन्थ के माध्यम से सुनाया है।

वीर सावरकर ने 1907 में जब अपने इस ग्रन्थ की मराठी भाषा में रचना पूर्ण की उस समय उनकी आयु केवल 24 वर्ष की थी। लन्दन में अभिनव भारत की ही एक शाखा 'फ्री इंडिया सोसाइटी' की बैठकों में सावरकर इस ग्रन्थ के कतिपय अध्यायों का अंग्रेज़ी अनुवाद अपने भाषणों के माध्यम से प्रस्तुत किया करते थे। संभवत: इन्हीं भाषणों के आधार पर ब्रिटिश गुप्तचर विभाग के सतर्क अधिकारियों को इस ग्रन्थ की मूल प्रवृत्ति का अनुमान लग गया था। वे समझ गए थे कि यह ग्रन्थ नितान्त विद्रोह-प्रेरक कृति होगी। कुछ ही दिनों में वीर सावरकर ने देखा कि उनके इस मूल ग्रन्थ के दो अध्याय ही लुप्त हो गए हैं। उन्हें कुछ समय पश्चात् विदित हुआ कि ये दोनों अध्याय किसी-न-किसी माध्यम से स्कॉटलैंड यार्ड की गुप्तचर पुलिस के अधिकार में जा पहुंचे हैं। किन्तु इस घटना से वे निराश नहीं हुए। क्रान्तिकारियों ने भारतीय कस्टम विभाग और डाक-विभाग की क्रूर और गिद्ध-दृष्टि से बचाकर इसकी मूल पाण्डुलिपि भारत पहुंचा ही दी। ग्रन्थ तो इच्छित स्थान पर पहुंच गया, किन्तु क्रान्ति के इस ज्वाला-पुंज पर दृष्टिपात करते ही महाराष्ट्र के बड़े-से-बड़े मुद्रणालयों का भी साहस उड़ गया और उनमें से कोई भी इसको प्रकाशित न कर पाया। अन्तत: अभिनव भारत के ही एक सदस्य, 'स्वराज्य' नामक पत्र के सम्पादक ने इस ग्रन्थ को अपने मुद्रणालय में मुद्रित करने का संकल्प कर लिया। किन्तु ब्रिटिश सरकार भी पूर्णत: सतर्क और सजग थी। अत: ज्यों ही उन्हें यह सूचना प्राप्त हुई कि महाराष्ट्र में ही इस ग्रन्थ का मुद्रण आरम्भ हो रहा है तो उसने तत्काल भारत सरकार को सूचित कर दिया और सभी प्रमुख मुद्रणालयों पर अचानक छापे मारे गए तथा तलाशियां ली गईं। अभिनव भारत के जिस साहसी सदस्य के पास यह पाण्डुलिपि थी उसे सौभाग्यवश पुलिस के ही एक अधिकारी ने छापा मारे जाने से पूर्व ही सूचित कर दिया था। अत: उसने अपने स्थान पर पुलिस के पहुंचने से पूर्व ही इसे सुरक्षित

स्थान पर पहुंचा दिया। इस स्थिति में ग्रन्थ के मुद्रित होने की कोई आशा ही नहीं रह गई थी। अतः यह पाण्डुलिपि लन्दन तो नहीं, किन्तु पेरिस भेज दी गई और वहां से वह स्वातंत्र्य वीर सावरकर के पास पहुंचाई गई। भारत में इस ग्रन्थ का मुद्रित हो पाना तो अब असम्भव ही है, यह समझकर 1908 ई० में इसे जर्मनी में मुद्रित कराने का निश्चय किया गया, क्योंकि वहां संस्कृत ग्रन्थ मुद्रित होते थे। किन्तु जर्मनी के कम्पोजीटरों को तो मराठी भाषा से नाम मात्र का भी परिचय नहीं था, साथ ही वहां का देवनागरी टाइप भी बड़ा भद्दा और विचित्र था। अतः पर्याप्त व्यय करने के पश्चात् इस विचार का परित्याग ही करना पड़ा।

इन सब असुविधाओं को दृष्टिगत रखकर अब इस ग्रन्थ का अंग्रेजी अनुवाद करने का निश्चय किया गया और इंग्लैंड में आई० सी० एस० तथा बैरिस्टरी का अध्ययन करने वाले बैरिस्टर फड़के तथा श्री अय्यर आदि भारतीय छात्रों ने यह दायित्व संभाला। ये छात्र अभिनव भारत के सदस्य थे। जब इसका अंग्रेजी अनुवाद पूर्ण हो गया तो श्री वी० वी० एस० अय्यर ने इसको पूर्णरूपेण पढ़कर भाषा प्रवाह की दृष्टि से एकरूपता प्रदान की और अब उन्हीं के निरीक्षण में इसको इंग्लैंड में ही मुद्रित कराने का निर्णय किया गया। किन्तु ब्रिटिश गुप्तचर भी निरन्तर सक्रिय थे। अतः उन्होंने इस ग्रन्थ को जब्त करने आदि की धमकियां देकर उसका वहां मुद्रण असम्भव बना दिया। अब यह अंग्रेज़ी पांडुलिपि पेरिस भेजनी पड़ी। किन्तु उन दिनों फ्रांसीसी सरकार भी ब्रिटेन से डरती थी। अतः अंग्रेजों के इंगित पर फ्रांसीसी गुप्तचरों ने भी दमन और आतंक के हथकण्डे अपनाए। परिणामतः यह ग्रन्थ फ्रांस में भी न छप सका। किन्तु इन सम्पूर्ण परिस्थितियों में भी क्रांतिकारी हताश नहीं हुए। अब उन्होंने हालैंड के एक मुद्रणालय को वीर सावरकर के इस महान ग्रन्थ को मुद्रित करने के लिए तैयार कर लिया। साथ ही उन्होंने जोर-शोर से यह प्रचार भी किया कि ग्रन्थ का मुद्रण फ्रांस में ही हो रहा है। अंग्रेज़ों के गुप्तचरों ने फ्रांस के सभी मुद्रणालयों का कोना-कोना छान मारा, किन्तु उन्हें ग्रन्थ के स्थान पर केवल निराशा ही हाथ लगी। इससे पहले कि हालैंड में इस ग्रन्थ के मुद्रण के सम्बन्ध में ब्रिटिश गुप्तचरों को कुछ विदित हो पाता यह ग्रन्थ मुद्रित होकर तैयार हो गया। वहां से इसकी सभी प्रतियां फ्रांस पहुंचा दी गईं, जहां उन्हें गुप्त रूप से प्रसारित करने हेतु छिपाकर रखने की व्यवस्था की गई थी। वीर सावरकर की क्रांतिकारी भाव-गति और इस ग्रन्थ में प्रस्तुत प्रामाणिक जानकारी की कल्पना मात्र से ही अंग्रेज़ गुप्तचर प्रकम्पित थे। मुद्रण और भाषण स्वातंत्र्य का डिंडिम नाद करने वालों ने इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में यह निश्चित समझकर भी कि इस ग्रन्थ का मुद्रण अभी नहीं हो पाया है, इस पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। विश्व में प्रकाशित होने से पूर्व ही किसी पुस्तक पर प्रतिबन्ध लगाए जाने की यह घटना अभूतपूर्व थी।

ब्रिटेन के समाचार पत्रों ने अपनी स्वातंत्र्यप्रियता का परिचय देते हुए सरकार के इस निर्णय पर उसकी डटकर भर्त्सना की।

मुद्रण-स्वातंत्र्य की हत्या करने वाली यह निषेधाज्ञा जब वीर सावरकर को बताई गई तो उन्होंने 'लन्दन टाइम्स' में एक पत्र लिखकर सरकार की कटु आलोचना की। उन्होंने अपने पत्र में लिखा कि "सरकार स्वयं यह स्वीकार करती है कि उसे इस बात की जानकारी नहीं है कि ग्रन्थ की मूल पांडुलिपि मुद्रित होने के लिए कहां गई है। अत: सरकार किस आधार पर यह आरोप लगा रही है कि यह ग्रन्थ राजद्रोह की प्रेरणा देनेवाला भयंकर साहित्य है। वह इस ग्रन्थ के मुद्रित होने से पूर्व ही ऐसी टिप्पणी किस आधार पर कर रही है? इसके तो केवल दो ही कारण हो सकते हैं कि या तो यह पांडुलिपि सरकार के ही पास है और यदि नहीं है तो सरकार का यह कृत्य नितान्त ही अनुचित और दमनकारी है। यदि सरकार के पास इस ग्रन्थ की पांडुलिपि है तो उसे चाहिए कि वह राजद्रोह के आरोप में मुझे न्यायालय के समक्ष उपस्थित करे। यदि उसके पास पांडुलिपि नहीं है तो सरकार बताए कि वह किस आधार पर यह कहती है कि इस ग्रंथ में राजद्रोह का प्रतिपादन किया गया है?"

'लन्दन टाइम्स' ने वीर सावरकर का यह पत्र ही प्रकाशित नहीं किया, अपितु अपनी ओर से यह टिप्पणी भी दी कि "जब सरकार ने स्पष्ट रूप से अपनी उद्दंडता का प्रदर्शन कर इस पुस्तक पर रोक लगाने का असाधारण पग उठाया है तो यह निश्चित ही समझना चाहिए कि दाल में कुछ काला अवश्य है।"

हालैंड में इस पुस्तक के अंग्रेज़ी संस्करण के प्रकाशित होने के उपरान्त इसकी सैकड़ों प्रतियां अनेक उपायों द्वारा भारत भेजी गईं। एक उपाय यह था कि इन प्रतियों पर "पिकविक पेपर्स", "स्काट्स वर्क्स", "डान क्विकज़ोट" आदि के आवरण चढ़ा दिए जाते थे। कतिपय प्रतियां कृत्रिम खानों वाले सन्दूकों में भी भेजी गईं। इसी प्रकार का एक सन्दूक स्वर्गीय सर सिकन्दर हयात खां भारत लाए थे। वह भी अभिनव भारत के सक्रिय सदस्य थे और उन दिनों लन्दन में ही छात्र थे। उनका इस महान ग्रन्थ की प्रतियों से भरा हुआ सन्दूक गुप्तचर विभाग की गुप्त दृष्टि से सकुशल बच निकला। इसी प्रकार यह पुस्तक अनेक वरिष्ठ नेताओं, पुस्तकालयों, महाविद्यालयों और क्रान्तिकारियों तक ही नहीं पहुंची, अपितु सैनिकों के पास भी जा पहुंची। तदुपरांत 1909 में इस पुस्तक का फ्रांस से प्रकाशन हुआ और आयरलैंड, फ्रांस, रूस, जर्मनी, मिस्र तथा अमरीका के क्रान्तिकारियों ने भी इस महान ग्रन्थ का खुले हृदय से स्वागत किया। इधर 1910 ई० में इंग्लैंड तथा भारत के शासकों ने अभिनव भारत के दमन का कार्यक्रम अपनी पूर्ण शक्ति से चलाया। कई क्रान्तिकारी फांसी पर लटका दिए गए तो अनेक को कालापानी की काल कोठरियों में ठूंसकर नारकीय

यातनाएं दी गईं। वीर सावरकर को भी इसी वर्ष दो जन्मों के आजन्म कारावास (50 वर्ष) का कठोर और अभूतपूर्व दण्ड दिया गया। उनका यह दण्ड विश्व के इतिहास की अनोखी घटना है।

किन्तु इन भयंकर प्रहारों से भी स्वातंत्र्यलक्ष्मी के पुजारी क्रान्ति-दूतों का साहस मन्द नहीं हुआ, अपितु लाला हरदयाल, महान देशभक्त महिला मदाम कामा और श्री चट्टोपाध्याय आदि क्रान्तिकारियों ने '1857 का स्वातंत्र्य-समर' का द्वितीय अंग्रेज़ी संस्करण प्रकाशित करने का निश्चय किया। इसका दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ और इसके विक्रय से प्राप्त राशि का उपयोग क्रान्तिकारी आन्दोलन की सहायतार्थ किया जाने लगा।

लाला हरदयाल ने अमरीका से प्रकाशित होने वाले अपने पत्र 'गदर' में भी इनका हिन्दी, उर्दू तथा पंजाबी में अनुवाद प्रकाशित किया। परिणाम यह हुआ कि केलिफोर्निया आदि में कृषि-कार्य करने वाले सिख कृषकों के हृदय में भी स्वतन्त्रता की पावन अग्नि प्रज्वलित हो उठी। किन्तु उन्हीं दिनों अर्थात् 1914 में प्रथम महायुद्ध का विस्फोट हो गया। उस समय भारतीय सेना में विद्रोह की भावनाओं को भड़काने के लिए किए जा रहे प्रयासों में भी इस महान ग्रन्थ का बहुत अधिक योगदान रहा। इस ग्रन्थ की अनेक प्रतियां तो उन दिनों अमरीका आदि देशों में डेढ़-डेढ़ सौ रुपये में बिकी थीं।

जिन दिनों वीर सावरकर बन्दी बना लिए गए थे, उन्हीं दिनों इस ग्रन्थ की मूल मराठी पांडुलिपि मदाम कामा के पास पेरिस में भेज दी गई थी। ब्रिटिश गुप्तचरों को इसका कुछ भी पता न लग पाए, इस दृष्टि से मदाम कामा ने ग्रंथ की मूल मराठी पांडुलिपि जेवर बैंक ऑव पेरिस में सुरक्षित रूप में रख दी। किन्तु महायुद्ध की इस अग्नि में पेरिस भी झुलस उठा और जहां यह ग्रन्थ सुरक्षित था, वह नगर ही अरक्षित हो गया। उन दिनों अभिनव भारत संगठन के एक प्रमुख कार्यकर्त्ता तथा वीर सावरकर के निकटतम सहयोगी गोवा-निवासी डॉक्टर कुटिनो भी फ्रांस में थे। युद्ध के कारण उन्हें भी फ्रांस का त्याग कर अमरीका जाना पड़ा और इस ग्रन्थ की मूल पांडुलिपि भी वह अपने ही साथ ले गए। जब भारतीय स्वातंत्र्य सूर्य का अवतरण होने लगा तो जनता की यह मांग भी प्रबल हो उठी कि सभी भारतीय देशभक्तों के उन ग्रन्थों से प्रतिबन्ध हटाया जाय, जिनको अंग्रेज़ सरकार ने जब्त कर लिया है। आन्दोलन के फलस्वरूप यह मांग स्वीकार कर ली गई और वीर सावरकर लिखित यह महान ग्रन्थ भी बन्धन-मुक्त हो गया। जिस समय अमरीका में डॉ० कुटिनो को यह समाचार प्राप्त हुआ तो उन्होंने इस ग्रन्थ की पांडुलिपि को वीर सावरकर के पास वापस भेजने का निश्चय कर लिया। 1947 ई० में डॉ० कुटिनो ने अपने परम स्नेही श्री रामलाल वाजपेयी को इस सम्बन्ध में अवगत कराया और डॉ० बा० शि० मुंजे को इस सम्बन्ध में

सूचित किया। डॉ० मुंजे के माध्यम से ही इस ग्रन्थ की पांडुलिपि के सुरक्षित होने की सूचना मिली। बाद में अमरीका में रहनेवाले एक प्राध्यापक महोदय, जो भारत की स्वतन्त्रा के उपरान्त लखनऊ वापस लौटे, इस पांडुलिपि को अपने साथ भारत ले आए। उक्त प्राध्यापक महोदय स्वातंत्र्य वीर सावरकर को यह पांडुलिपि वापस करने के लिए जब बम्बई पहुंचे तो उन दिनों स्वातंत्र्य वीर सावरकर को गांधी-हत्याकांड में बंदी बना लिया गया था। किन्तु जब भारत के न्याय देवता की प्रभा प्रदीप्त हुई और वीर सावरकर इस आरोप से ससम्मान बरी हो गए तो उक्त प्राध्यापक महोदय ने यह पांडुलिपि वीर सावरकर को समर्पित कर दी। इस प्रकार अनेक विपत्तियों के बादल चीरकर इस महान ग्रन्थ की पांडुलिपि भी अपने अज्ञातवास की अवधि पूर्ण कर स्वतन्त्र हो गई। 10 मई, 1965 को इस पांडुलिपि के आधार पर ही यह ग्रन्थ मराठी भाषा में महाराष्ट्र हिन्दू सभा द्वारा प्रकाशित किया गया। ग्रन्थ की पांडुलिपि के अनेक पृष्ठ फट गए थे जिन्हें वीर सावरकर के परामर्श से उनके सचिव श्री बाल सावरकर ने व्यवस्थित किया। ग्रन्थ के तृतीय अंग्रेजी संस्करण का प्रकाशन 1929 के अन्त में हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन की ओर से अमर हुतात्मा सरदार भगत सिंह ने गुप्त रूप से किया था। इससे पूर्व जो संस्करण प्रकाशित हुए उन पर लेखक के नाम के स्थान पर 'एन इण्डियन नेशनलिस्ट' ही मुद्रित होता था। सरदार भगतसिंह द्वारा प्रकाशित संस्करण में ही सर्वप्रथम लेखक के रूप में वीर विनायक दामोदर सावरकर का नाम मुद्रित किया गया। उन्होंने इस ग्रन्थ का प्रचार भी नितान्त गुप्त किन्तु सुनियोजित ढंग से किया। पुस्तक की बिक्री खूब हुई तो सरकार ने इसकी प्रतियों को जब्त करने में भी कोई कसर न उठा रखी।

1930-31 के सत्याग्रह के दिनों में इस ग्रन्थ के कतिपय अध्यायों की साइक्लोस्टाइल प्रतियां भी बम्बई में बोरीबन्दर पर बेची गई थीं। चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य ने भी इस ग्रन्थ को गुप्त रूप से प्राप्त कर पढ़ा था। 1942 ई० में देशगौरव नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने आज़ाद हिन्द फौज की बागडोर अपने हाथों में संभाली। नेताजी को मलाया पहुंचने पर इस महान ग्रन्थ की एक प्रति प्राप्त हो गई। कुआलालम्पुर के एक विक्रेता श्री जयमणि सुब्रह्मण्यम ने इस ग्रन्थ का तमिल संस्करण प्रकाशित किया था। इसका नेताजी सुभाष बोस ने भी पूर्ण उपयोग किया था। उन्होंने 'दिल्ली-चलो' का महान जयघोष भी इसी ग्रन्थ के प्रथम खण्ड से लिया था।

इस ग्रन्थ का प्रथम मराठी संस्करण 1946 में वीर सावरकर के साहित्य से प्रतिबन्ध उठा लिए जाने के उपरान्त ही प्रकाशित हुआ। यह मराठी अनुवाद भी अंग्रेजी से ही करना पड़ा था।

इस प्रकार अभिनव भारत के सशस्त्र क्रान्तिकारी संगठन से लेकर नेताजी सुभाषचन्द्र बोस की आजाद हिन्द सेना के संघर्ष तक यह ग्रन्थ सभी क्रांतिकारियों को स्वातंत्र्यलक्ष्मी के पावन अर्चन के लिए सर्वस्व समर्पण की प्रेरणा प्रदान करता रहा। इसे क्रान्तिकारियों ने योगेश्वर श्रीकृष्ण की गीता के समान ही महत्त्व प्रदान किया। ब्रिटिश साम्राज्यरूपी कंस की सम्पूर्ण शक्ति इस ग्रन्थ रूपी कृष्ण को समाप्त कर पाने में असफल रही। क्रान्तिकारियों ने गोकुल के ग्वाल-बालों के समान उसे अपने-अपने आंचल में छिपाए रखा। कहावत है कि इतिहास अपने आपको दोहराता है। गोकुल का यह कन्हैया पुनः नन्दकिशोर के रूप में प्रकट हो गया। इसका प्रथम संस्करण भी, जिसका अंग्रेज़ी से भाषान्तर किया गया था, 1947 ई० में पूना से प्रकाशित हुआ था। अब हिन्दी भाषा में प्रथम बार मूल मराठी पांडुलिपि का भाषान्तर प्रस्तुत है।

वैसे तो इस गौरव ग्रन्थ का पन्ना-पन्ना पठनीय एवं उद्धरणीय है, पर हम यहां स्थान की सीमा को देखते हुए पुस्तक के केवल दो अंश ही प्रस्तुत करेंगे। उत्तरार्द्ध से लिए गए इन दो अंशों में क्रमशः रानी लक्ष्मीबाई और तात्या टोपे की जीवनाहुतियों का मार्मिक वर्णन है। स्मरण रहे, यह वही अंश है जिनको पढ़कर सर विन्स्टन चर्चिल के मुख से स्वतः निकल पड़ा—"इन दोनों हुतात्माओं की वीर गति का वर्णन पढ़कर मुझे ऐसा लगता है मानो यूनानी लेखक प्लूटार्क की अमर वीरगाथाएं पढ़ रहा हूं।"

रानी लक्ष्मीबाई का वर्णन इस प्रकार है—

"इस प्रकार रानी लक्ष्मीबाई लड़ी। अपना लक्ष्य पूरा कर गई। ऐसा जीवन सम्पूर्ण को प्रकाशित करता है। वह सब सद्गुणों का निचोड़ थी। यह महिला, जिसने जीवन के 23 वसन्त ही देखे थे, कोमलांगी, मधुर विशुद्ध चरित्र, पुरुषों में भी दुर्लभ संगठन कौशल से ओतप्रोत थी। उसके हृदय में देशभक्ति रत्नदीप की तरह प्रकाशमान थी। अपने देश भारत पर उसे गर्व था। युद्ध-कौशल में वह अद्वितीय थी। विश्व में शायद ही कोई ऐसा देश होगा, जो ऐसी देवी को अपनी कन्या और रानी कहने का अधिकारी होगा। इंग्लैंड के भाग्य में यह सम्मान अब तक नहीं बदा है। इटली की क्रान्ति में ऊंचे शौर्य और आदर्श का परिचय मिलता है, फिर भी इतने वैभवपूर्ण समय में इटली एक भी लक्ष्मी पैदा नहीं कर सका।

"भारत का यह सौभाग्य है कि ऐसी रत्नमणि यहाँ पैदा हुई। उसका शरीर बाबा गंगादास की झोपड़ी में प्रज्वलित ज्वाला में दमक रहा है। पर यह रत्नदीप हमारी मातृभूमि भी कदाचित् पैदा न कर सकती, यदि यह स्वतंत्रता संग्राम का महायज्ञ न रचा जाता। अनमोल मोती सागर की सतह पर ही नहीं मिल जाते। रात्रि के अंधकार में सूर्यकान्त मणि तेज की किरणें नहीं फेंकती। चकमक

पत्थर कोमल वस्तु की रगड़ पर चिनगारी उत्पन्न नहीं करता। इन सबको विरोध की अपेक्षा होती है।

"1857 में हमारी भूमि पर सचमुच आग भड़क उठी थी। फिर विश्व में गूंजने वाला धमाका···इस अग्नि का फैलाव विस्तृत था। मेरठ में चिनगारी उठी और डलहौजी के 'रोलर' से समतल बना धूल का ढेर—सारा देश ज्वालामुखी बारूद का अम्बार दिखाई दिया। जैसे आतिशबाज़ी का अनार खुलने पर उसमें से रंग-बिरंगे बाण-पेड़ तथा अन्य चीज़ें छूटती हैं और शांत हो जाती हैं, उसी तरह इस क्रान्ति के अनार से तप्त लहू बहा, शस्त्रास्त्र और मुठभेड़ें निकलीं। यह अनार भी कितना बड़ा—मेरठ से विंध्याचल तक लम्बा, पेशावर से दमदम तक चौड़ा, और उसे सुलगाया गया। आग की लपटें सभी दिशाओं में व्याप्त हो गईं और उस अनार में क्या-क्या अजीब चीज़ें थीं। लहू मेघ की तरह बरसा—ओलों के साथ। दिल्ली के घेरे, प्लासी का प्रतिशोध, कानपुर, लखनऊ तथा सिकन्दराबाद के कत्ल। सहस्रों वीर जूझ रहे हैं, खप रहे हैं, नगर जल रहे हैं। कुंवरसिंह आता है, जूझता है, गिरता है, मौलवी आया, लड़ा और मारा गया। कानपुर, लखनऊ, दिल्ली, बरेली, जगदीशपुर, झांसी, बांदा, फर्रुखाबाद के सिंहासन, पांच हजार, दस हज़ार, सहस्रों, लाखों तलवारें, ध्वजाएं, झंडे सेनापति, घोड़े, हाथी, ऊंट सभी इस बारूद भरे प्रचंड अनार से आग के फव्वारे के समान छूटते हैं। लपलपाती ज्वालाएं आकाश में उठकर लुप्त हो जाती हैं। चारों ओर युद्ध-ज्वालामुखी फूटने का रोमांचकारी दृश्य।

"और यह चिता—बाबा गंगादास की झोपड़ी के पास जल रही है। 1857 के स्वातंत्र्य समर के ज्वालामुखी की यह अन्तिम ज्वाला है।"

पुस्तक के लगभग अन्तिम अध्याय में वीर तात्या टोपे के बलिदान का वर्णन भी अत्यन्त मर्मस्पर्शी है। स्वयं सावरकर ने इसे '1857 के स्वातन्त्र्य युद्ध के होमकुण्ड में अन्तिम आहुति' की संज्ञा दी है। प्रस्तुत है पृ० 478 से 480 तक वर्णित वीर तात्या टोपे के अन्तिम क्षणों का लोमहर्षक वर्णन—

"अन्ततः 1859 को जांच-पड़ताल और पूछताछ का प्रश्न समाप्त हो गया। तात्या टोपे को फांसी का दण्ड सुना दिया गया। दोपहर के चार बजे थे कि उसे तीसरी बंगाली गोरी सेना के कड़े पहरे में वध-स्तम्भ के समीप लाया गया। फांसी के तख्ते के समीप आने पर सैनिकों ने व्यूह बनाकर इस महान सेनानी को चारों ओर से घेर लिया। इस अवसर पर भारतीय पैदल सैनिक, अश्वारोही तथा अन्य दर्शकों की भारी भीड़ वहां एकत्रित थी। तात्या ने अंग्रेजों से पुनः एक बार आग्रह किया कि उसके वृद्ध पिताजी को किसी प्रकार से त्रस्त न किया जाए। तात्या को दण्ड सुना दिया गया। तात्या के पैरों में पड़ी बेड़ियां काट दी गईं। वह नरपुंगव निःसंकोच धीरे-धीरे वधस्तम्भ तक पहुंचा और बड़ी ही तीव्र गति से

सीढ़ियों पर जा चढ़ा। नियमानुसार जब वधिक उसके हाथ-पैर बांधने के लिए वहां पहुंचे उस समय तात्या ने हंसते हुए उनसे कहा, 'ऐसा करने की किंचित मात्र भी आवश्यकता नहीं है।' यह कहकर उसने स्वयं फांसी के फंदे को हार के समान अपने गले में पहन लिया। फन्दा कसा गया और एक झटके के साथ तख्ता गिर पड़ा!!

"'और इस प्रकार पेशवा का राजनिष्ठ सेवक, 1857 के स्वातन्त्र्य समर का महान नायक, हिन्दुस्तान का निर्भीक वीर, धर्मरक्षक, देशभिमानी और कुशल सेनापति तात्या टोपे का निर्जीव शरीर अंग्रेज़ों द्वारा निर्मित फांसी की टिकटिकी पर झूलता दृष्टिगोचर हुआ। वधमंच रक्त से सराबोर हो गया तो सम्पूर्ण देश के नेत्रों से अश्रुधाराएं प्रवाहित हो उठीं। समग्र हिन्दुस्तान ही अश्रुओं से भीग गया। स्वदेश की सेवा के लिए उसने महान और अवर्णनीय कष्टों को सहन किया था। यही तात्या का एकमात्र दोष था। उसे देशभक्ति का यह पारितोषिक एक विश्वास-घाती की नीचता के कारण मिला था। अंग्रेज़ों ने उसे किसी रक्तपिपासु दस्यु के समान वधस्तम्भ पर लटकाया था। हे महावीर तात्या! तुमने इस अभागे देश में जन्म ही क्यों लिया? इन विश्वासघाती नराधमों की स्वतंत्रता के लिए तुमने संघर्ष का आह्वान ही क्यों किया? तात्या टोपे, तुम्हारे लिए हमारे नेत्रों से जो अश्रुधाराएं प्रवाहित हो रही हैं, क्या तुम उन्हें देख रहे हो? हां, तुम्हारे रक्त का प्रतिदान हम अभागे और निर्बल अश्रु बहाकर ही तो दे रहे हैं। हे नरवीर, तुमने भी यह कैसा घाटे का सौदा किया?

"तात्या की निष्प्राण देह को फांसी के फन्दे से झूलता हुआ देखकर अपने पराक्रम पर मुग्ध अंग्रेज़ अब वापस लौट रहे थे। तात्या की नश्वर काया इसी स्थिति में भगवान सूर्यदेव के अस्ताचलगामी होने तक लटकती रही। वहां खड़े हुए पहरेदार भी चले गए, तब भीड़ को चीरते हुए यूरोपियन प्रेक्षक आगे बढ़े और उनमें इस महान राष्ट्र-भक्त के केशों के गुच्छे स्मृति-स्वरूप अपने पास रखने के लिए पहल करने की होड़ लग गई।

"1867 के स्वातन्त्र्य-युद्ध के इस होमकुण्ड में तात्या के बलिदान के रूप में यह अन्तिम आहुति पड़ गई थी।

"इस प्रकार वह भयंकर ज्वालामुखी, जिसने अपने विस्तीर्ण मुख से क्रोध के आवेग में मांस, रक्त, लाशें, गड़गड़ाहटें और दग्ध लाल लावा उगला था, अब अपना मुख बन्द कर रहा था। उसकी तलवार रूपी जीभें अब पुनः म्यान रूपी जबड़ों में समाती जा रही थीं। अब उसकी कड़कती बिजलियां और कर्णभेदी गर्जनाएं, प्रचण्ड वेग, सब कुछ वायुमण्डल में लुप्त हो रहे थे। ज्वालामुखी का मुख बन्द हो गया। उसके धरातल पर पुनः कृषि-कार्य आरम्भ हो गया। पुनः शान्ति, सुरक्षा और प्रेमभाव उभरने लगा। और अब इस ज्वालामुखी का पृष्ठ

भाग इतना सुकोमल और हरा-भरा दिखाई देने लगा कि कोई यह आशंका भी नहीं कर सकता कि इसके नीचे प्रचण्ड ज्वालामुखी विश्राम कर रहा है।"

× × ×

एक प्रेरक प्रसंग और—पुस्तक के अन्तिम पृष्ठ की अन्तिम पंक्तियों से—

"दिल्ली के सम्राट बहादुरशाह 'ज़फर' का अन्त असहाय व हृदयविदारक था, उससे सभी परिचित हैं। बन्दी बनाए जाने के बाद उनकी बेबसी का मज़ाक उड़ाते हुए किसी अंग्रेज़परस्त शायर ने कहा था—

दमदमे में दम नहीं, अब खैर मांगो जान की,
ए जफ़र, ठंडी हुई शमशीर हिन्दुस्तान की।

"इस जर्जर स्थिति में भी बादशाह इस शेर का उसी छन्द में मुंहतोड़ उत्तर देने में नहीं चूके—

गज़ियों में बू रहेगी, जब तलक ईमान की,
तख्ते लन्दन तक चलेगी, तेग हिन्दुस्तान की।"

और कैसा संयोग कि मदनलाल धींगरा (1909) व ऊधमसिंह (1940) सरीखे जांबाज़ों ने सचमुच ही यह तेग लन्दन के तख्त तक चलाकर दिखा दी। धींगरा का विस्तृत वर्णन हम अगले अध्याय में करेंगे।

वर्ष के अन्तिम तीन मास

वर्ष 1908 के अन्तिम तीन महीनों में लन्दन में खासी गहमागहमी रही। किसी न किसी उद्देश्य से कई उच्चकोटि के भारतीय नेता लन्दन पहुंचे। इनमें विशेष उल्लेखनीय हैं—गणेश खापर्डे व आर०वी० करन्दीकर। ये लोग तिलक के निकट सहयोगी थे व उनके निष्कासन के विरुद्ध प्रिवी कौन्सिल में अपील करने आए थे। कुछ ही समय बाद चिदम्बरम् पिल्ले के कानूनी सलाहकार भी लन्दन पहुंचे। चिदम्बरम् को भी दो आजीवन कारावास में 40 वर्ष का दण्ड दिया गया था, जो उच्च न्यायालय ने घटाकर 6 वर्ष कर दिया था। इन सलाहकारों को आशा थी कि कौन्सिल में अपील करने से यह दण्ड और भी कम हो सकता है। यह सलाहकार इंडिया हाउस में आकर सावरकर से भी मिले। उधर लाला लाजपतराय भी बर्मा से मुक्त होकर लन्दन पहुंचे थे। गोखले के लन्दन आगमन की चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं। दो अन्य महत्त्वपूर्ण व्यक्ति जो इसी काल में लन्दन गए थे, उग्रवादी नेता विपिनचन्द्र पाल और सावरकर के

मित्र व सहयोगी लाला हरदयाल थे, जो सितम्बर में भारत आकर अक्तूबर में फिर लन्दन लौट गए थे ।

दूसरी ओर कुछेक ऐसे व्यक्ति भी गए जो आगे चलकर इंडिया हाउस के लिए अनिष्टकारी सिद्ध हुए । इनमें से एक था रगून से आया रामाराव और दूसरा ग्वालियर का हरीशचन्द्र कोरेगांवकर। कट्टर देशभक्त व प्रखर वक्ता होते हुए भी हरीशचन्द्र परिस्थितियों का कुछ ऐसा शिकार हुआ कि सावरकर के जेल जाने का प्रमुख कारण ही बन गया ।

तीन प्रमुख समारोह

वर्ष के अन्तिम तीन महीनों में भारतीय क्रान्तिकारियों की जो गतिविधियां रहीं, उनमें तीन समारोह विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें से पहला 16 अक्तूबर को लन्दन के प्रसिद्ध कैक्सटन हाल में हुआ । 6 अक्तूबर, 1905 को घटित 'बंग-भंग' के विरोध में इस समारोह की अध्यक्षता लाला लाजपतराय ने की । अन्य वक्ताओं में विपिनचन्द्र पाल, खापर्डे, डॉ० कुमारस्वामी और करन्दीकर थे । इसी दिन इसी कैक्सटन हाल में दक्षिण अफ्रीका में दलित भारतीयों के साथ सहानुभूति प्रकट करने के लिए एक और सभा हुई। इस सभा की अध्यक्षता श्री मंचरजी भावनगरी ने की । पर सबसे प्रभावशाली वक्ता सावरकर ही रहे । इसके बाद 20 दिसम्बर को फिर इसी स्थान पर इंडिया हाउस के क्रान्तिकारियों द्वारा इंडियन नेशनल कांफ्रेंस का आयोजन हुआ जिसकी अध्यक्षता खापर्डे ने की। इसमें भाग लेने के लिए हरदयाल व मदाम कामा पेरिस से आए। वक्ताओं में ज्ञानचन्द्र वर्मा, वी० वी० एस० अय्यर और सर आगा खां भी थे । सभा के अन्त में डॉ० कुमारस्वामी द्वारा पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव रखा गया और इसका सबसे जोरदार अनुमोदन किया सावरकर ने। उनके भाषण के अन्तिम शब्द मानो उनकी अपनी ही भविष्यवाणी थी—

"इस प्रस्ताव के लिए मत व्यक्त करने मे पूर्व यह बात अच्छी तरह सोच लीजिए कि स्वराज्य प्राप्ति से पूर्व हमें भयंकर कारागृहों की दीवारों और सील भरी कोठरियों में भी रहना पड़ सकता है।"

गुरु गोविन्द सिंह समारोह

इस वर्ष का अन्तिम समारोह भी फिर उसी कैक्सटन हॉल में मनाया गया। यह था 29 दिसम्बर को आयोजित भारतीय योद्धा, कवि व देशभक्त गुरु गोविन्द सिंह का जन्म-दिवस । सभा की अध्यक्षता विपिनचन्द्र पाल ने की। समारोह का श्रीगणेश सावरकर द्वारा रचित 'अमर देश' नामक उस गीत से हुआ जो उन्होंने विशेष रूप से इसी अवसर के लिए लिखा था।

"आमुचा प्रियकर हिन्दुस्तान"—इस पंक्ति से आरम्भ होनेवाले इस मधुर व प्रेरक गीत में सावरकर ने भारत की महिमा बखान करते हुए इसे कालिदास, हिमालय, विक्रम और गौतम का देश कहा है। इसीलिए यह देश पावन भी है, पितातुल्य भी है और गौरवपूर्ण भी।

पुण्यभूमि तू, पितृभूमि तू,
तू आमुचा अभिमान,
आमुचा प्रियकर हिन्दुस्तान……

इसी अवसर पर लिया गया ऐतिहासिक चित्र आज भी लन्दन के संग्रहालय में सुरक्षित है। चित्र में विपिनचन्द्र पाल, उनके बाईं ओर मदाम कामा और उनकी बाईं ओर लाला लाजपतराय हैं। पृष्ठभूमि में अंकित 'सत् श्री अकाल' और दो ध्वज विशेष ध्यान देने योग्य हैं। इनमें से एक सिखों का व दूसरा भारतीय स्वतंत्रता का ध्वज है। सबसे विशेष बात यह है कि सभी लोगों ने सिख धर्म का सम्मान करते हुए सिरों पर पगड़ी बांध रखी है।

1909

नहीं ! सर्वसम्मति से नहीं !!

हिंसा···अतिशय हिंसा ? अहिंसा···मात्र अहिंसा ? अथवा, परिस्थिति के अनुसार पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, लाभ-हानि को देखते हुए न्यायोचित हिंसा ? यह सनातन विवाद का विषय रहा है, जिसके पक्ष-विपक्ष में धर्मशास्त्र, इतिहास व साहित्य से अनेकों दृष्टान्त प्रस्तुत किये जा सकते हैं। कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में साम, दाम, दंड, भेद सभी को परिस्थिति के अनुसार न्यायोचित ठहराया गया है। हमारे दो गौरव ग्रन्थ रामायण तथा महाभारत भी ऐसे दृष्टांतों से भरे पड़े हैं, जहां एक ओर ताड़का, बाली, जयन्त, खरदूषण, मेघनाद, कुम्भकरण, अहिरावण, रावण, और दूसरी ओर जयद्रथ, शिशुपाल, दुःशासन, दुर्योधन आदि दुर्जनों से लेकर द्रोणाचार्य, कर्ण और भीष्म जैसे वीर, गुणी व दानी व्यक्तियों का संहार भी असत्य पर सत्य की विजय कहकर न्यायोचित ठहराया गया है। इतिहास देखें तो राजा विक्रमादित्य से लेकर शिवाजी तक कितनी ही युद्ध गाथाएं हैं जिन्हें देशभक्ति और शौर्य की कसौटी पर खरा ठहराया गया है।

यह बात मात्र हिन्दू धर्म तक सीमित हो, ऐसा नहीं है। "लड़ते हुए मरोगे तो बहिश्त की हूरें, और जीतोगे तो ताजो-तख्त"—लगभग सभी मुगलों ने इसी भावनात्मक तुरुप से अपने सिपाहियों को बरगलाए रखा। कहने को ईसाई मत में भी प्यार, भाईचारे व क्षमा की शिक्षाएं सर्वोपरि हैं पर कितने ईसाई राजाओं ने रणक्षेत्र में इन शिक्षाओं का पालन किया है ?

यों महात्मा गांधी भी अहिंसा···केवल अहिंसा, और एक थप्पड़ खाने पर दूसरा गाल बढ़ा देने का पाठ पढ़ाते रहे। पर 1942 के 'भारत छोड़ो' आन्दोलन में 'करो या मरो' नारा भी उन्होंने ही दिया। गांधीजी ने इस अवसर पर सेनाओं के महत्व को एकदम नकार दिया था। उनकी अद्भुत आचरण संहिता के अनुसार राष्ट्र सुरक्षा के लिए किसी प्रकार की सेना की आवश्यकता नहीं होती। हां, छोटी-मोटी चोरी-चकारी रोकने के लिए मुट्ठी-भर पुलिस कर्मियों को रखा जा सकता है। इस सिद्धान्त को मान लिया जाए तो 1948 में पाकिस्तानी व 1962 में चीनी आक्रमण के समय भारत क्या करता ? हैदराबाद, गोआ, बंगलादेश और पंजाब जैसी समस्याओं का हल कैसे निकलता ? यह हमारी समझ के परे है। बापूजी तो अब नहीं हैं, पर हम चाहेंगे कि उनके लाखों-करोड़ों अनुयायियों

में से कोई एक भी, हमारी इस तुच्छ शंका का समाधान कर सके ।

कैसी हास्यास्पद स्थिति है कि जहां एक ओर, हर 2 अक्तूबर व 30 जनवरी को गांधीजी का स्मरण करते हुए अहिंसा का पालन करने की शपथ ली जाती है वहीं, दूसरी ओर, वही लोग सुभाष बोस, भगतसिंह, आज़ाद, हार्डिंग बम व काकोरी काण्ड के क्रान्तिकारियों को भावभीनी श्रद्धांजलि देने पहुंच जाते हैं। किन्तु, राष्ट्र को सुदृढ़ व सक्षम बनाने के लिए आधुनिकतम शस्त्रों की आवश्यकता तो होती ही है। ऐसी स्थिति में यह दुःख की बात है कि हमने उस महान योद्धा को सर्वथा भुला दिया है, जिसने आज से लगभग आठ दशक पूर्व 1857 के तथाकथित 'गदर' को स्वातंत्र्य समर की गौरवपूर्ण संज्ञा दी, अंग्रेज़ी साम्राज्य को उखाड़ फेंकने के लिए बार-बार सशस्त्र क्रान्ति का आह्वान किया, व 'राजनीति का हिन्दूकरण, हिन्दुओं का सैनिकीकरण व राष्ट्र का औद्योगीकरण' जैसा महामन्त्र दिया। यह महान योद्धा, दूरदर्शी[1] व देशभक्त कोई और नहीं, हमारी इस पुस्तक का नायक, स्वातंत्र्य वीर विनायक दामोदर सावरकर ही था।

इससे पूर्व कि हम सावरकर के 'क्रान्ति-दर्शन' को उस घटना से जोड़ें जिसे इसके प्रतिपादन की पराकाष्ठा भी कहा जा सकता है, बीच में दो-तीन महत्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख आवश्यक है। इससे तत्कालीन वातावरण व पृष्ठभूमि को समझने में सुविधा रहेगी। पहली घटना को हम 'कीर्तिकर प्रसंग' कहना चाहेंगे।

---

1. 2 जुलाई, 1911 को 'महाराजा' नाम का जहाज़ सावरकर को लेकर जब पोर्ट-ब्लेअर पहुंचा, तो उनके पास जहाज़ से उतर कर जेल पहुंचने तक के लिए केवल 45 मिनट का समय था। उस दूरदृष्टा ने इतने ही समय में, हथकड़ी-बेड़ियों में जकड़े हुए कम्बल व थाली बगल में दबाए, चारों ओर दृष्टि दौड़ाकर वहां की सम्पूर्ण भौगोलिक स्थिति को आंक लिया। जो बात उनके मन में आयी उसका उल्लेख 'आजन्म कारावास' में पृ० 89 में किया गया है---"यह अंडमान निकोबार द्वीपपुंज भारत के पूर्वी सागर का द्वार है। यदि ये द्वीप हिन्दुस्तान के अधिकार में न रहें तो हमारी युद्ध सामर्थ्य दुर्बल हो जाएगी। ऐसी स्थिति में, पूर्व की ओर से जो समुद्री आक्रमण होगा, वह सीधे कलकत्ता के द्वार पर होगा। पर यदि यह द्वीप समूह भारत की अधिसत्ता में रहेगा और वहां उत्तम वायुसेना व नौसेना की स्थापना की जाये तो पूर्व की ओर से होनेवाले विदेशी शत्रु के किसी भी आक्रमण का प्रथम धक्का अंडमान पर ही पड़ेगा।"

मार्च 1942 में जापानी आक्रमण व 1945 तक जापानी शासन ने इस बात की पुष्टि भी कर दी। कई दशकों बाद हमारी सरकार ने भी यह बात समझ ली और अब वहां नौसेना के बेड़े की स्थापना की गयी है।

कीर्तिकर-प्रसंग

इंडिया हाउस की ब्रिटिश-विरोधी गतिविधियों से खीझकर स्कॉटलैंड यार्ड ने बिल्कुल नयी चाल चली। यह थी शत्रु को उसी के मित्र से मरवाने की। सावरकर के मन की बात निकालने के लिए उन्होंने इण्डिया हाउस में जिस व्यक्ति को ला बैठाया वह था एक 30वर्षीय मराठी तरुण कीर्तिकर।

1909 के आरम्भ में इण्डिया हाउस में भेजा गया यह व्यक्ति बम्बई के उच्च न्यायालय में अनुवादक होने के नाते कई भाषाओं में पारंगत था। लंदन में उसे दंत-चिकित्सा सीखने के बहाने लाया गया। शीघ्र ही वह अपनी योग्यता से सबका चहेता बन गया, विशेषकर सावरकर का। 'कीर्तिकर कथा' का बखान करते हुए डा० राजन का कहना है कि उसके रंग-ढंग आरम्भ से ही सन्देहास्पद थे। अस्पताल जाने की बजाय वह सुबह देर तक बिस्तर में पड़ा अलसाता रहता, इसलिए नाश्ता भी देर से ही करता था। फिर जब घर से निकलता तो देर रात तक नहीं लौटता। इतना ही नहीं, उसने इण्डिया हाउस की देख-रेख करने वाली एक अंग्रेज़ युवती सोफिया से भी दोस्ती गांठ ली। डा० राजन ने जब इन दोनों के बाहर साथ-साथ घूमने की बात सावरकर को बताई, तो उन्होंने इसे केवल मन का वहम कहकर टाल दिया। हां, उस लड़की की लापरवाही देखते हुए उसे काम से हटा दिया गया।

पर इससे भी कीर्तिकर की आशिकमिजाज़ी में अन्तर नहीं आया। उसने इंडिया हाउस के निकट ही सोफिया को एक कमरा दिला दिया, जिसका खर्चा भी वह स्वयं ही देता था। इंडिया हाउस के कार्यक्रमों में वह सदा ही बढ़-चढ़कर भाग लेता। फ्री इंडिया सोसाइटी की सदस्यता के लिए उसका चन्दा भी औरों से अधिक होता।

डा० राजन का संदेह दिन-प्रतिदिन बढ़ता गया। एक दिन उन्होंने स्वयं जब अस्पताल जाकर कीर्तिकर के विषय में पूछताछ की तो यह जानकर हक्के-बक्के रह गये कि वह तो अस्पताल में प्रवेश लेने के बाद मुश्किल से एक सप्ताह ही आया था। डा० राजन ने जब यह बात अय्यर को बतायी तो उन्हें भी दाल में कुछ काला लगा। इंडिया हाउस के प्रवासियों में कीर्तिकर ही एकमात्र व्यक्ति था जो कभी भी और कहीं भी आ जा सकता था। उस पर पुलिस की कोई नज़र नहीं थी।

एक दिन जब कीर्तिकर महोदय अपनी सहेली के साथ कोई प्रेम-नाटक देखने गये थे, अय्यर ने चोर-चाबी से उसका कमरा खोलकर सन्दूक की तलाशी ली। अन्य वस्तुओं के अतिरिक्त उसमें एक ऐसा कागज़ भी था जिस पर इंडिया हाउस में हुई पूरे सप्ताह की गतिविधियों का विस्तृत ब्यौरा था। स्पष्ट है कि यह

अंग्रेज़ पुलिस को भेजने के लिए तैयार किया गया था। अय्यर ने यह रिपोर्ट सावरकर और राजन को दिखायी। इस त्रिमूर्ति ने तुरन्त यह निर्णय लिया कि हड़बड़ी या गुस्से में काम बिगाड़ने के बजाय कोई ऐसी युक्ति निकाली जाये जिससे सांप भी मरे और लाठी भी बची रहे।

उस रात कीर्तिकर जब अपने कमरे में लौटा, तो अय्यर भी जेब में भरी हुई पिस्तौल रखकर उसके पीछे हो लिए। उस शाम के 'प्रेम-नाटक' और उस लड़की के साथ चल रहे 'प्रेम के नाटक' के विषय में चुटकी लेते हुए उन्होंने एकाएक गम्भीर होकर कीर्तिकर की लिखी हुई रिपोर्ट उसके सामने रखकर कहा कि अब उसकी पोल खुल चुकी है। पहले तो कीर्तिकर ने कुछ आंय-बांय की, पर तभी अय्यर ने दरवाज़ा बन्द करके पिस्तौल निकालते हुए कहा, "जानते हो, इसमें छह गोलियां हैं, जो तुम्हारी खोपड़ी के छह टुकड़े करने के लिए काफी हैं। पर यदि तुम सब-कुछ सच-सच बता दो तो बच जाओगे।"

उधर राजन बराबर बाहर दरवाज़े पर किसी भी स्थिति से निबटने के लिए तैयार था। बेचारे कीर्तिकर का दम सूख गया। वह अय्यर के पांवों पर गिरकर गिड़गिड़ाने लगा। इसी बीच राजन भी अन्दर आ गया और तय यह हुआ कि वह अपनी रिपोर्ट पहले ही की तरह अंग्रेज़ों को भेजता रहेगा, पर अय्यर, राजन व सावरकर को दिखा देने के बाद। एक बात और—अब उसे फ्री इंडिया सोसाइटी के चन्दे में दण्ड स्वरूप एक पौंड और अधिक देना होगा। मरता क्या न करता। बेचारा कीर्तिकर झट मान गया।

इसके बाद, कई महीनों तक इंडिया हाउस के क्रान्तिकारियों और स्काटलैंड यार्ड के बीच बुद्धि-चातुर्य का एक अजीबो-गरीब शतरंजी खेल चलता रहा। इसमें यार्ड निरन्तर इस भ्रम में रही कि वह कीर्तिकर द्वारा भारतीयों को उल्लू बना रहे हैं, जब कि वास्तविकता यह थी कि वह स्वयं अपने ही मोहरे से पिट रही थी। चक्की के पाट में फंसा बेचारा कीर्तिकर कुछ समय बाद स्वयं ही कहीं गायब हो गया।

नवागन्तुक एम० पी० टी०

तभी, इंडिया हाउस में एक दक्षिण-भारतीय युवक ने प्रवेश किया। 20वर्षीय, मद्रास निवासी इस तरुण का नाम था, एम० पी० तिरुमलाचारी। उसने बताया कि वह मद्रास व पांडिचेरी में 'इंडिया' नामक तमिल साप्ताहिक में काम कर चुका है, जहां उसने इंडिया हाउस के देशभक्तों के विषय में बहुत कुछ सुन रखा था। वह स्वयं भी यहीं रहकर देश के लिए कुछ करना चाहता है। सावरकर व उनके साथियों के लिए यह दूध से जल जाने के बाद छाछ भी फूंककर पीने की स्थिति थी। अतः उसके हर काम पर कड़ी नज़र रखी गयी।

एक दिन उसकी लिखी हुई चिट्ठी को चोरी-छिपे पढ़कर देखा गया, तो यह जानकर सुखद निराशा हुई कि अपने माता-पिता को लिखे इस पत्र में तिरुमलाचारी ने इंडिया हाउस के निवासियों की मुक्त कंठ से प्रशंसा की हुई थी। कीर्तिकर के तुरन्त बाद उन परिस्थितियों में यह अनुभव विचित्र था। कहा जाता है कि इसके बाद भी हर नये आने वाले को लेकर इस तरह की जासूसी वहां का स्थायी मज़ाक बन गया था।

एम० पी० टी० की प्रतिभा अद्भुत थी। एक तरह से वह हरफनमौला था। वह इंडिया हाउस की देखभाल करता, चौका-रसोई सम्हालता, बाजार से सौदा लाता और भवन के कार्यक्रमों में भी सक्रिय रहता। सावरकर और अय्यर उसकी प्रतिभा का कुछ ऐसा प्रयोग करना चाहते थे कि एम० पी० टी० को स्वयं भी कुछ आर्थिक लाभ हो सके। कीर्तिकर काण्ड से सचेत सावरकर ने एम० पी० टी० को स्वयं कुछेक छुटपुट रहस्यों के साथ स्काटलैंड यार्ड के उच्चाधिकारियों के पास भेजा। वहां जाकर उसने बताया कि भवन में उसे केवल 5 पौंड में ही सुबह से शाम तक खपना पड़ता है। इसलिए, यदि अंग्रेज उसे दस पौंड और दें, तो वह उनके लिए भवन की दिन प्रतिदिन की घटनाओं का ब्यौरा लाता रहेगा। उसकी, नमूने के तौर पर दी गयी सूचनाओं में इतना दम था कि पुलिस अधिकारियों को उसकी शर्त मानते देर न लगी।

इसके बाद एम० पी० टी० इंडिया हाउस में काम करता और खुले आम स्काटलैंड यार्ड में जाकर वहां के 'भेद' खोल आता। स्पष्ट है कि ये भेद इतने फालतू और पालतू होते कि इनके देने या न देने से इंडिया हाउस की चारदीवारी पर कोई आंच नहीं आने वाली थी।

यह अनोखी व्यवस्था सभी को खूब रास आयी। स्कॉटलैंड यार्ड, एम० पी० टी० द्वारा दी गई खुफिया जानकारियों से निहाल थी। एम० पी० टी० यार्ड के धन से मज़े कर रहा था और इंडिया हाउस इस चटपटी सांठ-गांठ के चटखारे ले रहा था कि कैसे उनका एक साधारण जासूस, विख्यात जासूसी संगठन की आंखों में दिन-दहाड़े धूल झोंक रहा है।

समय की मांग थी कि मात्र धूल झोंकते रहना ही पर्याप्त नहीं। आवश्यकता थी सगठन को अधिक सुदृढ़ और शक्ति सम्पन्न करने की। सावरकर, जो सदा से ही सशस्त्र सैनिक क्रान्ति के पक्षधर थे, अब शीघ्र ही इसे क्रियान्वित करना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने व अय्यर ने एकाध क्लब में चोरी-छिपे निशानेबाज़ी सीखनी भी शुरू की। पर असलियत पता चलते ही, उनकी सदस्यता समाप्त कर दी गई। डॉ० राजन ने लंदन के एक पालिटैक्निक में फोटोग्राफी सीखने का काम शुरू किया। साथ ही, निशानेबाज़ी की कक्षा में भी प्रवेश पा लिया। यह युक्ति क़ाफी समय तक काम करती रही।

सावरकर की सशस्त्र क्रान्ति की योजना का, और अभिनव भारत के घोषणा पत्र का भी, एक प्रमुख पक्ष यह था कि जैसे भी हो, भारत में अधिकाधिक शस्त्र भेजे जाएं। इसके लिए उन्होंने अपने दो मुस्लिम साथी मिर्ज़ा अब्बास व सिकन्दर हयात के साथ पहले भी काफी पिस्तौलें भेजी थीं। बाद में उन्होंने पेरिस से कुछ स्वचालित ब्राउनिंग पिस्तौलें व हज़ारों कारतूस मंगाकर उन्हें एक सन्दूक की चोर तली में छुपाकर, इंडिया हाउस के रसोइये चतुर्भुज अमीन के साथ स्वदेश भेजा।

चतुर्भुज 15 फरवरी को लंदन से चला और सारे सुरक्षा अधिकारियों को चकमा देता हुआ 7 मार्च को सुरक्षित बम्बई पहुंच गया। पर वहां पहुंचकर कुछ गड़बड़ी हो गयी। वास्तव में यह पार्सल महाराष्ट्र अभिनव भारत के तत्कालीन अध्यक्ष हरि अनन्त थट्टे को दिया जाना था। पर उनसे सम्पर्क न हो पाने के कारण, चतुर्भुज ने इसे सावरकर के एक अन्य सहयोगी, विष्णु महादेव भट्ट को देना चाहा। पर विष्णु पर बराबर पुलिस की कड़ी नज़र होने के कारण विवश होकर चतुर्भुज ने इसे एक अन्य सज्जन गोपालराव पाटणकर को दे दिया। यहां से ये पिस्तौलें गलत हाथों में बंटकर बिखर गयीं। बहती गंगा में हाथ धोने का सुअवसर देखकर स्वयं चतुर्भुज ने भी अपने लिए बढ़िया-सी पिस्तौल छांट ली।

इधर लंदन में सावरकर बेसब्री से चतुर्भुज के सुरक्षित पहुंचने के समाचार की प्रतीक्षा कर रहे थे। पर जो समाचार उन्हें मिला वह घोर दुखदायी था। फरवरी आरम्भ में उनकी एक मात्र सन्तान, 8वर्षीय पुत्र प्रभाकर चेचक से चल बसा। इतना ही नहीं, 28 फरवरी को अर्थात् चतुर्भुज के भारत पहुंचने से एक सप्ताह पूर्व सावरकर के बड़े भाई बाबाराव सावरकर को राजसत्ता के विरुद्ध भड़काने वाला साहित्य लिखने के आरोप में धारा 131 अ के अन्तर्गत बन्दी बना लिया गया। यहां एक शंका यह भी होती है कि बाबाराव को पिस्तौल के पार्सल आने की जानकारी थी और किसी प्रकार अंग्रेज़ी सरकार को भी इसका सुराग मिल गया था, अत: उनकी गिरफ्तारी पूर्व नियोजित थी। साहित्यिक रचनाओं का तो केवल बहाना था क्योंकि ये सारी कविताएं कई वर्ष पूर्व लिखी गयी थीं।

दो मार्च को नासिक में बाबाराव के घर पुलिस ने छापा मारा। रालेट कमेटी की रिपोर्ट के अनुसार घर से जो सामान बरामद हुआ उसमें पचास पन्नों की अंग्रेज़ी टाइप में बम मैन्युअल की एक प्रति भी थी जिससे मिलती-जुलती एक प्रति कलकत्ता में मानिकतल्ला के उद्यान-भवन से प्राप्त हुई थी। बाबाराव के घर से प्राप्त इस प्रति में सबसे अधिक विस्तृत जानकारी थी और कई प्रकार के बम बनाने की विधियां लगभग 45 चित्रों की सहायता से समझायी गयी थीं।

बाबाराव की गिरफ्तारी से नासिक व निकटवर्ती क्षेत्रों में आक्रोश की प्रचंड ज्वाला भड़क उठी। कैसी क्रूर विडम्बना थी ? जहां, एक ओर, अंग्रेज़ राजा-रानियों की प्रशंसा में गीत रचने वालों को पुरस्कृत किया जाता था, वहीं, दूसरी

ओर, देशभक्तों को स्वदेश मुक्ति हेतु रचित, रचनाओं के लिए दंडित किया जा रहा था। बाबाराव की अन्य रचनाओं में जो कविता सबसे अधिक चुभ रही थी वह थी लगभग दो वर्ष पूर्व लिखी गई यह कविता—

रण बिन स्वातंत्र कोना मिले ना

अर्थात् भला रण के बिना भी कहीं स्वतंत्रता मिली है।

लंदन में तो इस समाचार ने आग में घी का काम किया। सावरकर ने तत्काल एक सभा बुलायी जिसमें हर सदस्य ने 'मात्र क्रोध नहीं, प्रतिशोध' की शपथ ली, और इसी आधार पर भविष्य के लिए व्यूह रचना होने लगी।

लेनिन-सावरकर भेंट

मार्च का यह महीना, अन्य कई दृष्टियों से भी महत्त्वपूर्ण था। सावरकर का एक अंग्रेज भक्त गॉय अल्ड्रेड था जिसकी मां आयरिश थी। वह श्यामजी के पत्र 'इंडियन सोश्यालाजिस्ट' का मुद्रक भी था। इन दिनों वह इंडिया हाउस की गति-विधियों में उत्साहपूर्वक भाग लेने लगा था। 5 नवम्बर अर्थात् इंग्लैंड के ऐति-हासिक गॉय फाक्स दिवस[1] को जन्मा यह व्यक्ति केवल नाम से ही नहीं, विचारों से भी क्रान्तिकारी था। कई देशों के प्रसिद्ध क्रान्तिकारी नेताओं व संस्थाओं से उसका निजी सम्पर्क था। वह इन क्रान्तिकारियों को समय-समय पर इंडिया हाउस लाकर सावरकर व अन्य साथियों से मिलवाता रहता। पुलिस की नज़र से बचने के लिए ये व्यक्ति प्रायः नाम व वेश बदलकर आते। इन व्यक्तियों में जो सबसे महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय नाम है, वह है नये रूस के निर्माता लेनिन का। विश्वास किया जाता है कि गॉय अल्ड्रेड के माध्यम से इन दो दिग्गज क्रान्तिकारियों की तीन या चार भेंटें हुई जो 30 मिनट से 3 घंटे तक की थीं। इन वार्ताओं में अर्थशास्त्र, धर्म, राजनीति व इतिहास, सभी विषयों पर खुलकर विचार-विमर्श हुआ। लंदन संग्रहालयों में सुरक्षित दस्तावेज़ों में इन रहस्यमय व्यक्तियों के साथ रहस्यमयी भेंटों का उल्लेख मिलता है। शायद इसी बात को लेकर 14 मार्च को लंदन के एक साप्ताहिक डिसपैच में इंडिया हाउस पर जो लेख छपा, उसका शीर्षक था 'हाउस ऑफ मिस्ट्री'।

स्वयं सावरकर ने भी 1937 में रत्नगिरि से मुक्त होने के बाद अपनी व लेनिन की भेंटों की पुष्टि की व यह भी बताया था कि इतने वर्षों बाद इस रहस्यो-द्घाटन के पीछे कुछेक गम्भीर राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय कारण थे।

---

1. 5 नवम्बर, 1605 को गॉय फॉक्स नामक एक क्रान्तिकारी ने बारूद की सुरंगें बिछाकर, इंग्लैंड के पर्लियामेन्ट को उड़ा देने की योजना बनाई थी। योजना विफल हो गई और गॉय को पकड़कर फांसी दे दी गई। इस खुशी में आज भी, इंग्लैंड में रोशनी-पटाखें छुड़ाकर गॉय फाक्स दिवस मनाया जाता है।

मार्च से जून तक के 4 महीने सावरकर व उनके परिवार के लिए बहुत कष्ट-कारक थे। भारत में अंग्रेज़ी सरकार बाबाराव पर तरह-तरह के झूठे सच्चे अभियोग लगाकर मुकदमे को पेचीदा बना रही थी। उधर लन्दन में 'ग्रेज़ इन' के अधिकारियों ने सावरकर पर उससे भी अधिक बेहूदा और संगीन दोष लगाकर उनके कानून की डिग्री जब्त कर ली। डिग्री देने की शर्त केवल यह थी कि सावरकर भविष्य में राजनीति से सन्यास लेने का वचन दें। सावरकर ने इसके विरुद्ध अपील की और यह बात पार्लियामेन्ट तक जा पहुंची। काफी गरमागरम बहस के बाद, 9 जून को इसके निर्णय की तिथि तय हुई। पर इस 9 ता० ने भी अजब गुल खिलाये। होना तो इस दिन सावरकर का फैसला था पर हुआ उनके बड़े भाई बाबाराव का, जिन्हें राजसत्ता के विरुद्ध युद्ध के लिए उकसाने के कारण आजीवन कारावस का दण्ड दिया गया।

सावरकर इस समय तक इंडिया हाउस छोड़कर विपिनचन्द्र पाल के घर रहने लगे थे। उन्हें तार द्वारा जब यह समाचार मिला तो वह क्रोध से आग-बबूला हो उठे। अगले ही रविवार 20 जून को इंडिया हाउस में जो साप्ताहिक सत्संग हुआ, उसमें सावरकर ज्वालामुखी की तरह फट पड़े। बंधी हुई मुट्ठियों और तनी हुई भृकुटियों से सावरकर ने अपने 'स्वातंत्र्य समर' के कुछ प्रेरक प्रसंगों को इस भांति पढ़कर सुनाया कि सभी श्रोता क्रोध से उत्तेजित हो उठे। मानो, सिर पर कफन बांधें, हर व्यक्ति ने कुछ करने या मरने की शपथ ली। स्वदेश की स्वतंत्रता के लिए अंग्रेजों के प्रति क्रोध, घृणा और प्रतिशोध का कब से दबा हुआ लावा अब किसी भी क्षण फूट पड़ने को पूरी तरह तैयार था। ये दिन आया बृहस्पतिवार, 1 जुलाई, 1909 को।

महानगरी लन्दन के बीचों बीच स्थित, प्रसिद्ध इम्पीरियल इन्स्टीट्यूट के जहांगीर हाल में इस दिन दादाभाई नौरोजी के नेशनल इंडियन एसोसिएशन का वार्षिकोत्सव मनाया जाना था। लगभग 300 आमंत्रित व्यक्तियों के समूह में भारतीय विद्यार्थियों के अतिरिक्त उनके कई अंग्रेज़ मित्र व हितैषी भी थे। कार्यक्रम में शानदार भोज के बाद सांस्कृतिक रसपान का भी आयोजन किया गया। यह बात रोचक भी है और रहस्यमय भी कि स्वयं सावरकर इस महत्त्व-पूर्ण अवसर से अलग रहे। मदनलाल धींगरा के जीवनीकार प्रो० वी० एन० दत्त के अनुसार सावरकर इस दिन जानबूझ कर लन्दन से बाहर चले गये थे। हां, उनके दो विश्वासपात्र ज्ञानचन्द्र वर्मा व कोरेगांवकर उत्सव में उपस्थित थे।

इन्स्टीट्यूट के निकट सेवॉय होटल में रात्रि-भोज समाप्त होते-होते लगभग 11 बज गये। सभा के प्रमुख अतिथि ले० कर्नल सर कर्ज़न वायली अपनी पत्नी के साथ होटल की सीढ़ियां उतर रहे थे कि तभी श्रीमती वायली को कोई बात याद आयी और वह अपने पति को छोड़कर भीतर गयीं। बेचारी क्या जानती थीं कि

सदा के लिये ही अपने पति से अलग हो रही हैं। वायली ने अगली सीढ़ी पर कदम रखा ही था, कि सामने से सलेटी व काले रंग के डबल ब्रेस्ट सूट में सुसज्जित एक रोबीला, मजीला भारतीय नौजवान उनके समक्ष पहुंचा और अभिवादन किया। वायली इस व्यक्ति से पूर्व परिचित था, इसलिए न उसे, न किसी अन्य व्यक्ति को सन्देह हुआ। तभी, इस युवक ने जेब से पिस्तौल निकालकर एक के बाद एक पांच गोलियां, दनादन दाग दीं। कहते हैं, पांच इसलिए कि शायद पहली चार निशाने पर सही न बैठी हों। हां, पांचवीं गोली वायली की दायीं आंख को भेदती हुई भेजे में घुस गई। ललमुंहे वायली का चेहरा बहते रक्त की धारा से और भी लाल हो गया और वह उसी क्षण वहीं ढेर हो गया।

कर्जन वायली के साथ चल रहा एक अन्य अंग्रेज़ भक्त 46वर्षीय पारसी डॉ० कैप्टेन कावस ललकाका मारनेवाले पर झपटा कि तभी छठी गोली ने उसका भी काम तमाम कर दिया। स्पष्ट है कि यह गोली मात्र आत्मरक्षा में चलायी गयी थी। कहा यह भी जाता है कि यह छठी गोली इस व्यक्ति ने स्वयं अपने लिए बचाकर रखी थी। इस घटना के नायक का नाम मदनलाल धींगरा था।

इसके बाद जो हाय-तौबा और भगदड़ मची, उसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है। पिस्तौल खाली होते देख कुछ अन्य अंग्रेज़ों ने मिलकर धींगरा को पकड़ लिया और एक कुर्सी पर बैठाकर दबोचे रखा। नाड़ी के पास से उसका हाथ दबोचने वाले एक अंग्रेज़, सर थार्नबर्न को विश्वास नहीं हो रहा था कि इस समय भी मदनलाल की नाड़ी की गति सामान्य थी। इस बात की पुष्टि[1] बाद में डाक्टरों की रिपोर्ट से भी होती है।

पकड़ो-धकड़ो का शोर सुनकर एक अंग्रेज़ महिला भागती आई। यह सुनकर कि मरने वाला कोई अंग्रेज है, वह भीड़ को चीरते हुए सीधे शव के पास जा पहुंची। मृतक को पहचान लेने के बाद भी उसे बहुत देर तक विश्वास ही नहीं हुआ कि मृतक उसका ही पति वायली है। उसे फूट-फूटकर रोता देख सभी लोगों की आंखें भर आयीं। सहानुभूति में स्वयं मदन की आंखें भी नम हो गयी थीं।

बाद में जब कोरेगांवकर ने सावरकर के समक्ष इस घटना का प्रसन्न होकर वर्णन किया कि किस प्रकार श्रीमती वायली सीढ़ियों से भागती हुई आयीं और लाश पर लुढ़क गयीं तो सावरकर ने उसे गुस्से में लताड़ते हुए कहा—"एक

1. राजनैतिक हत्या के बाद भागने की अपेक्षा वहीं खड़े रहने की इस भावना की तुलना उसी वर्ष नासिक में जैक्सन को मारने वाले अनन्त कान्हरे (22 दिसम्बर 1909); लन्दन ही के कैक्स्टन हाल में माइकल ओ डायर को मारने वाले ऊधमसिंह (12 मार्च 1940); और गांधी को मारने वाले गोडसे (30 जनवरी 1948) से की जा सकती है।

विधवा के आंसुओं पर तुम हंस रहे हो, तुम्हें लज्जा आनी चाहिए। ऐसा व्यक्ति देशभक्त नहीं हो सकता, जाओ, अब मुझे तुम पर विश्वास नहीं रहा।" भाग्य का परिहास कि आगे चलकर इसी व्यक्ति ने सरकारी गवाह बनकर सावरकर के विरुद्ध गवाही दी।

कुछ ही देर में पुलिस ने आकर जब मदनलाल की तलाशी ली तो उसकी जेब से एक और पिस्तौल, एक चाकू और एक छुरा भी मिला। उसे निकट के वाल्डेन स्थित पुलिस-स्टेशन ले जाया गया व बाद में ब्रिक्स्टन जेल। इससे पहले कि हम उस पर चलाये गये अभियोग के बारे में जानकारी लें, यह भी जान लेना आवश्यक है कि यह शूरवीर नायक था कौन ?

धींगरा : एक समर्पित देशभक्त

लम्बा, गोरा, आकर्षक और बलिष्ठ 25वर्षीय मदनलाल धींगरा, अमृतसर के एक क्षत्रिय एवं राजभक्त डॉ० साहिब दित्तामल के पांच पुत्रों में चौथा पुत्र था। डाक्टर दित्तामल संभ्रान्त व सम्पन्न नागरिक होने के साथ-साथ सफल चिकित्सक भी थे और अंग्रेज़ों के विशेष कृपापात्र भी। कहते हैं, कर्ज़न वायली से उनका प्रत्यक्ष परिचय व पत्र-व्यवहार भी था।

लन्दन में मदन इन्जीनियरिंग की शिक्षा प्राप्त करने गया था। उसके इने-गिने शौक थे। बढ़िया से बढ़िया कपड़े पहनना, इत्र-फुलेल लगाना, दावतों में जाकर खाना-पीना और सुन्दर युवतियों से मेल-जोल बढ़ाना। पर इस रंगीन-मिजाज तबीयत में एक जांनिसार शहीद की आत्मा छुपी हुई थी, जिसे अन्ततः सावरकर ने पहचाना। उनके चुम्बकीय व्यक्तित्व के सम्पर्क में आते ही मानो मदन का काया-कल्प हो गया। अब वह जितनी रुचि से दावतों व नाच-गानों में शामिल होता, उतने ही उत्साह से इंडिया हाउस के कार्य-कलापों में भाग लेता। उसके इस नये रंग-ढंग के विषय में जब पिता को खबर हुई तो उन्होंने एक पत्र में कर्ज़न को उस पर कड़ी निगाह रखने का आग्रह[1] किया।

कर्ज़न वायली ने उसकी इसी सुरा-सुन्दरी आसक्ति का शोषण करने के लिए

---

1. इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि बचपन से ही मदन की अपने पिता से नहीं बनी। डाक्टर वी० एन० दत्ता ने मदनलाल की जीवनी में उसे बचपन से ही सनकी, तुनकमिजाज़, अड़ियल व पिता विरोधी कहा है, और यह भी कि वह अपनी इच्छा के विरुद्ध पिता द्वारा कालेज छुड़वाकर और फिर ज़बरदस्ती करवाए गए अपने विवाह के दूसरे ही दिन घर छोड़कर भाग गया था। पहले उसने एक जहाज़ में नौकरी की, फिर मई 1906 में वह इंजीनियरिंग की शिक्षा पाने लन्दन पहुंचा।

कु० एमा जोसेफीन नाम की एक छिछोरी गोरी को उस पर डोरे डालने का काम सौंपा। वह इण्डियन नेशनल एसोसिएशन की सदस्य भी थी पर सावरकर का शिष्य मदन कोई कच्चा खिलाड़ी नहीं था। ऊपर से तो वह भी 'मदन-रति'[1] का नाटक खेलता रहा, पर कभी किसी रहस्य की भनक तक नहीं पड़ने दी। देश-भक्ति की धातु उसकी नस-नस में सावरकर ने ऐसे कूट-कूटकर भर दी थी कि एक बार उनके इशारे पर राजन ने किसी बात पर पैना सुआ उठाकर मदन की हथेली के आर-पार निकाल दिया पर उसने उफ तक नहीं की। बल्कि मुस्कुराते हुए सीटी बजाता रहा।

वायली कांड के एक दिन पूर्व जब वह अपने गुरु सावरकर के पास आया और पूछा—"क्या मेरी परीक्षा की घड़ी आ गयी है ?" तो सावरकर ने गम्भीर होकर बहुत नपे-तुले दार्शनिक ढंग से केवल इतना कहा—"किसी भी कार्य का संकल्प करना स्वयं इस बात का द्योतक है कि निश्चय ही वह घड़ी आ पहुंची है।" फिर एकाएक शब्दों को समेटते हुए चेतावनी के स्वर में कहा—"यदि इस बार भी अपना काम न कर पाओ, तो फिर कभी मुझे मुंह न दिखाना।"

इस बात को मान लेने के भी कई कारण हैं कि मदनलाल कर्ज़न वायली को नहीं, लार्ड कर्ज़न को मारना चाहता था। इस प्रयास में वह एक दो बार निष्फल रहा था। उसे ढीला पड़ते देख एक बार सावरकर ने स्वयं इस काम को करने का बीड़ा उठाया पर तब मदनलाल ने स्वयं बढ़कर कहा—"आप तो एक क्रान्ति-कारी के अतिरिक्त महान कवि, लेखक, विचारक, वक्ता भी हैं और मैं भारत मां का एक साधारण पुत्र ! यदि मुझे कुछ हो भी गया तो आप मेरे सरीखे सैकड़ों मदनलाल तैयार कर लेंगे पर यदि आपको कुछ हो गया तो हम सब मिलकर भी एक सावरकर नहीं बना पाएंगे।"

लन्दन प्रकम्पित

वायली की हत्या के सनसनीखेज समाचार से इंग्लैंड ही नहीं, समस्त यूरोप एवं विश्व के समाचार-पत्र भी पटे पड़े थे। 2 जुलाई शुक्रवार को 'डेली-टेलीग्राफ' की सुर्खी थी—

इम्पीरियल इन्स्टीट्यूट में सर वायली की सनसनीखेज हत्या। भारतीय विद्यार्थी बन्दी

उस दिन के 'टाइम्स' ने मदनलाल का समस्त ब्यौरा व वायली का चित्र छापते हुए जो समाचार दिया, उसके आरम्भिक शब्द थे—

---

1. डेविड गार्नेट ने अपनी आत्मकथा 'द गोल्डन ईको' में मदन को 'भारतीय बायरन' की उपाधि दी है।

"बृहस्पतिवार की रात इम्पीरियल इन्स्टीट्यूट में हुई निर्मम हत्या से पूरे इंग्लैंड व भारत में भय व रोष की लहर व्याप्त हो गयी। इसके बाद निरन्तर कई दिनों तक छोटी-बड़ी सभी पत्र-पत्रिकाओं में इस घटना व इससे सम्बद्ध दिन-प्रति-दिन होने वाली कानूनी गतिविधियों का विस्तृत ब्यौरा छपता रहा। निन्दा व भर्त्सना की इस अग्नि में पेरिस से भेजे गये व 'लन्दन टाइम्स' में छपे श्यामजी के उस पत्र ने घी का काम किया, जिसमें उन्होंने मदनलाल धींगरा के साहसिक कार्य की सराहना करते हुए उसे भारत मां का सच्चा सपूत कहा था।

नहीं ! नहीं !! सर्वसम्मति से नहीं !!!

2 जुलाई को धींगरा को वेस्टमिंस्टर पुलिस कचहरी में पेश किया गया। यहां उसने हत्या स्वीकारते हुए यह बात भी स्पष्ट कर दी कि कैप्टन ललकाका को मारने का उसका बिल्कुल इरादा नहीं था, ऐसा उसे केवल आत्मरक्षा के लिए करना पड़ा। अगले दिन, 3 जुलाई को लन्दन में ही सुरेन्द्रनाथ बनर्जी की अध्यक्षता में हुई एक शोक सभा में मदनलाल के 'कुकृत्य' की घोर निन्दा की गयी। इसके दो दिन बाद 5 जुलाई को एक और सभा हुई। इस ऐतिहासिक सभा का स्थान था वही कैक्स्टन हॉल और उद्देश्य भी वही था, 'शोक और निन्दा'। इस सभा में भारतीयों के अतिरिक्त बहुत से अंग्रेज़ व एंग्लो-इण्डियन भी उपस्थित थे। 'लन्दन टाइम्स' के अनुसार 'पारसी स्त्रियां इस अवसर के लिए विशेष रूप से सज-धजकर आयी थीं।' अध्यक्ष सर आगा खां के अतिरिक्त अन्य वक्ताओं में उल्लेखनीय थे सर मनचरजी भावनगरी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, वी० पी० पाल और खापर्डे। इन सभी वक्ताओं ने अपने भाषणों में धींगरा के कृत्य को 'असभ्य', 'अमानवीय', 'अक्षम्य' आदि कहा।

यहां तक तो ठीक था। बात तब बिगड़ी जब थियोडोर मॉरीसन नाम का एक व्यक्ति, जो इण्डिया कौन्सिल का सदस्य भी था, मदनलाल के छोटे भाई को लगभग खींचता हुआ मंच पर ले आया और उससे भी अपना रोष प्रकट करने को कहा। वह क्या बोला, या बुदबुदाया—उस गुलगपाड़े में किसी के कुछ पल्ले नहीं पड़ा। स्थिति तब और भी बिगड़ गयी जब अध्यक्ष सर आगा खां ने उठकर घोषणा की—

'यह सभा सर्वसम्मति से धींगरा के कृत्य की भर्त्सना करती है।'

पल भर को सभा में चुप्पी छाई रही…कि तभी 'नहीं ! नहीं !! सर्व सम्मति से नहीं !!!' (नो ! नो !! नॉट यूनेनिमसली !!!) के गूंजते गर्जन से लोग सकते में आ गये। अध्यक्ष ने भी चौंककर पूछा—"यह 'नहीं' कहने वाल कौन है ?"

"मैं !" उस स्वर में और भी कड़क थी।

"मैं कौन ? तुम्हारा नाम ?" लगभग सभी श्रोता उस नाम को जानने के लिए उस ओर देखने लगे।

"मेरा नाम है सावरकर।" आवाज़ में वही गरज और कड़क थी।

सावरकर—इस नामोच्चार से ही कइयों के दिल दहल उठे। स्पष्ट है कि तब तक यह व्यक्ति मात्र वक्ता व लेखक के रूप में ही नहीं, वरन् आतंकवादी क्रान्तिकारी के रूप में भी प्रसिद्ध हो चुका था। लोगों को भय था कि इसके पास बम, पिस्तौल[1] या और भी कुछ हो सकता है। सभा में हड़बड़ी मच गयी। इतने में, मन्चरजी का इशारा पाकर एडवर्ड पामर नामक एक तगड़ा यूरेशियन सावरकर की ओर झपटा और उनकी आंख पर एक मुक्का जमा दिया। सावरकर का चश्मा टूट गया और शायद इसी का कांच चुभने से उनके चेहरे से खून भी टपकने लगा। इस सबकी परवाह किए बिना वह अब अपनी कुर्सी पर खड़े हो गए और मुट्ठी बांधकर पुन: ऊंचे स्वर में बोले—"मैं अब भी इस प्रस्ताव के विरुद्ध हूं। यह बात मैं अपने रक्त की अन्तिम बूंद तक दोहराता रहूंगा।"

सावरकर का इतना कहना था कि उनके सहयोगी एम० पी० टी० ने आगे बढ़कर उस गोरे को ऐसा झापड़ रसीद किया कि वह औंधे मुंह जा पड़ा। अय्यर ने फौरन ही अपनी पिस्तौल निकालकर उसकी ओर तानी कि सावरकर को इशारे से उसे रोकना पड़ा। इसके बाद जो भगदड़ मची उसमें किसी को किसी का होश न था।

कहने को कुछ समय बाद यह सभा पुन: आरम्भ हुई। पर सावरकर के साथ इस कायरतापूर्ण व्यवहार पर सभी ने रोष प्रकट किया। स्वयं आगा खां ने मन्चर जी की जल्दबाज़ी की निन्दा की। एस० एन० बनर्जी तो विरोध के रूप में उठकर

---

1. लन्दन में मिली एक 82वर्षीय आयरिश महिला श्रीमती बारबेरा के अनुसार आयरलैंड के पत्रों में सावरकर के नाम में 'वी' के स्थान पर 'डब्ल्यू' लिखकर उसे 'वार' अर्थात् युद्ध का पर्याय समझा जाता था। उन्हीं से सुनी एक और घटना—"लन्दन में एक बार स्कॉटलैंड यार्ड के एक अधिकारी ने सावरकर को रोककर इस आधार पर उनकी तलाशी लेनी चाही कि उनके पास पिस्तौल या बम होने की सूचना मिली है। बाहर की जेबों में कुछ भी न पाने से निराश यह अधिकारी जब क्षमा मांगते हुए जाने लगा तो सावरकर ने उसे बुलाकर कहा—'आपकी सूचना गलत नहीं, आपने जेबें गलत देखीं,' फिर अन्दर की जेब से अपनी कलम निकालते हुए बोले—'यह है, मेरी पिस्तौल और बम, इससे लिखा गया एक-एक अक्षर विश्व के किसी भी बम या पिस्तौल से कम शक्तिशाली नहीं। आप चाहें तो इसे ले सकते हैं।' बेचारा सिपाही झेंप के मारे मुंह फेर कर चल दिया।

ही चले गये । इस बीच पुलिस भी आ पहुंची । सारी बात जानकर उसने सावरकर को और सावरकर के ही अनुरोध पर पामर को भी छोड़ दिया ।

140, सिक्लेयर रोड पर स्थित विपिनचन्द्र पाल के घर बितायी यह रात सावरकर के लिए कयामत की रात थी । उन्हें पल-पल काटना भारी हो रहा था । दर्द से छटपटाते वह देर रात तक करवट बदलते रहे । पर यह पीड़ा चोट से कहीं अधिक उस आहत संवेदना की थी । आखिर, आधी रात को उठकर उन्होंने अपनी स्थिति का न्यायोचित स्पष्टीकरण करने के लिए 'टाइम्स' को एक पत्र लिखा । 7 जुलाई के अंक में पृ० 10, स्तम्भ 2 में सबसे ऊपर प्रकाशित इस स्पष्टीकरण का सारांश यह था—

"अभी अभियुक्त की जांच अदालत में नहीं हुई है । कई बड़े अधिकारी कहते हैं कि यह हत्या पागलपन या निजी द्वेष के कारण हुई है । ऐसी अवस्था में उसके कार्य को राजनैतिक समझ लेना व उसे हत्या का दोषी मान लेना एक तरह से न्यायालय एवं न्यायप्रियता का अपमान है । यदि न्यायालय यह निर्णय ले कि हत्या राजनैतिक दृष्टि से नहीं की गयी, तब ? इसलिए निषेध प्रदर्शन की जल्दी करने की आवश्यकता नहीं । आज तक कई गोरे सिपाहियों ने भी भारतीयों की हत्या की है । पर ऐसी अवस्था में, न्यायालय के निर्णय से पूर्व क्या किसी अंग्रेज़ ने भी निषेध प्रदर्शक सभा की है ? सम्भव है, इन्हीं सैनिकों के समान यह हत्या भी शराब के नशे में हुई हो । ऐसी स्थिति में भारतीय जन स्वयं ही न्याय देने की शीघ्रता न करें । मेरे संशोधन प्रस्तुत करने का यही आशय था । इस संशोधन के पश्चात् भले ही प्रस्ताव सर्वसम्मति से पारित किया जाता । पर ऐसा न करते हुए काल्पनिक बम का चित्र देखकर सभी लोग सभा से भाग निकले व मुझ पर अन्यायपूर्ण एवं अमानवीय प्रहार किया गया ।"

'टाइम्स' में यह पत्र प्रकाशित होते ही कई आलोचकों की बोलती बन्द हो गयी, कईयों ने तो सावरकर के पक्ष का समर्थन किया । पर वह अधगोरा चुप न रह सका । शायद स्वयं को गोरी नस्ल में सम्मिलित करने की इच्छा से उस वर्णसंकर ने 'द टाइम्स' को एक पत्र में लिखा कि—"मैं ही वह व्यक्ति हूं, जिसने सावरकर को असली ब्रिटिश घूंसे का मज़ा चखाया था।" इस दर्पपूर्ण पत्र का उत्तर भी दूसरे ही दिन 'टाइम्स' में छपा । पत्र में अन्य बातों के अतिरिक्त अन्तिम वाक्य यह था—"और मैं ही वह व्यक्ति हूं, जिसने इस ब्रिटिश घूंसे का उत्तर उस भारतीय झापड़ से दिया था जिसने इन महाशय को ज़मीन चटा दी थी ।" इस व्यक्ति ने अपना नाम दिया था, एम० पी० तिरुमलाचारी ।

धींगरा अभियोग

धींगरा अभियोग की आरम्भिक सुनवाई 10 जुलाई को वेस्टमिंस्टर पुलिस

न्यायालय में न्यायाधीश होरेस स्मिथ के समक्ष शुरू हुई। मदन के परिवार वालों ने अन्धाधुन्ध पैसा खर्च करके, उसे 'पागल' दिखाकर, छुड़वाने की कोशिश की। पर मदन ने पहले ही दिन न्यायालय में दिये वक्तव्य से सिद्ध कर दिया कि वह मानसिक रूप से केवल सन्तुलित ही नहीं, वरन सजग व प्रखर भी है। उसके कृत्य को जुनून या उन्माद तो कहा जा सकता है, पागलपन नहीं। एक सच्चे सिपाही की भाषा में दिये गये इस रोमांचक वक्तव्य का एक अकाट्य तर्क इस प्रकार था—

"जिस भांति जर्मनों को इंग्लैंड पर कब्ज़ा करने का कोई अधिकार नहीं, उसी प्रकार अंग्रेज़ों को भी भारत पर अपना शासन बनाये रखने का अधिकार नहीं। मैं अपन आपको दोषी नहीं मानता, क्योंकि अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए किया गया कोई भी प्रयास अपराध नहीं होता। मैं चाहता हूं कि न्यायालय मुझे मृत्यु-दण्ड दे; इससे क्रांति की भावना और भी दृढ़ होगी।"

12 जुलाई के 'टेलिग्राफ' में प्रकाशित इस वक्तव्य को 'अद्भुत' और एक तरह से 'न्यायोचित' कहा गया है। इतना ही नहीं, इस लेख ने ब्रिटिश पुलिस के उस रवैये को भी आड़े हाथों लिया जिसमें उन्होंने मदनलाल की टाई व जूते के फीते भी उतरवा लिए थे। उधर ओल्ड बैले न्यायालय में लार्ड एल्वर्स्टन के समक्ष चल रहे इस मुकदमे की दिन प्रतिदिन की कार्रवाही को लन्दन के सभी समाचार पत्रों ने उचित स्थान दिया। यह कार्रवाही 20 जुलाई को समाप्त हो गई।

गुरु-शिष्य मिलन

22 जुलाई को सावरकर ब्रिक्स्टन जेल में धींगरा से मिलने गये और कहा—"मैंने कहा था न कि यदि असफल रहे तो मुझे मुंह न दिखाना। तुम सफल हुए, अतः मैं तुम्हारे दर्शन करने आया हूं। मुझे तुम पर गर्व है।" अपने गुरु के मुख से प्रशंसा के शब्द सुनकर मदन आह्लादित हो उठा। उसने कुछ कहना चाहा पर उसका गला रुंध गया। उसकी आंखें छलछला आयीं। उसने श्रद्धा से अपने क्रान्ति गुरु के चरण-स्पर्श किये।

अगले ही दिन 23 जुलाई को इस मुकदमे का 'पूर्व निश्चित' फैसला भी सुना दिया गया। शेष सारी कार्रवाही तो मात्र औपचारिकता ही थी। मदन ने अपने बचाव के लिए कभी कुछ नहीं कहा। हां, वह केवल अपनी जेब में रखे उस वक्तव्य को न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत किये जाने पर बल दे रहा था जो पुलिस ने उसकी जेब से निकाल लिया था, यद्यपि पुलिस बार-बार ऐसे किसी भी वक्तव्य की बरामदगी से साफ इन्कार कर रही थी।

17 अगस्त को मृत्युदण्ड का फैसला मदनलाल ने गम्भीरतापूर्वक सुना और सहज मुस्कान से कहा—

"श्रीमान्, मैं आपका धन्यवाद करता हूं। मुझे गर्व है कि मेरा यह तुच्छ जीवन

अपने महान देश के हित के लिए समर्पित हो रहा है।"

लन्दन में रह रहे मदन के दोनों भाइयों ने उससे मिलने की अनुमति मांगी। पर स्वयं मदन ने उन्हें 'देशद्रोही', व 'चापलूस' कहकर मिलने से इन्कार कर दिया। हां, सावरकर जब अगली व अन्तिम बार उससे मिलने गये तो मदन ने अपनी दो अन्तिम इच्छाएं व्यक्त कीं। एक तो यह कि उसके लिए एक दर्पण[1] भिजवा दिया जाय, ताकि वह देख सके कि फांसी के तख्ते पर जाते हुए कहीं उसके चेहरे पर भय की कोई शिकन तो नहीं। दूसरी यह कि उसका अन्तिम संस्कार हिन्दू रीति से हो, तथा कोई अहिन्दू उसके शरीर को हाथ भी न लगाये। रहा उसकी निजी वस्तुओं का प्रश्न सो उन्हें बेचकर किसी देशहित के कार्य में लगाया जाय।

ज्यों-ज्यों मदनलाल की फांसी का दिन निकट आता गया, त्यों-त्यों सावरकर को यह बात अधिक उद्विग्न करती गई कि किस प्रकार मदन की जेब में रखे उस वक्तव्य को (जिसे लेकर पुलिस साफ मुकर गयी थी) जनता के समक्ष लाया जाय।

आखिर, दिन-रात की दौड़-धूप के बाद सावरकर को उसकी एक प्रति मिल ही गयी। यह बहुमूल्य खोज हुई 15 अगस्त को। बस, फिर क्या था, सावरकर बिना एक भी पल गंवाये, सीधे अपने मित्र डेविड गार्नेट के पास भागे। डेविड ने उसी समय 'डेली-न्यूज़' के कार्यालय में जाकर अपने मित्र व उप सम्पादक राबर्ट लिन्ड की सहायता से अगले दिन के समाचार-पत्र में प्रथम पृष्ठ पर ही बड़े-बड़े अक्षरों में उसे छपवा दिया।

फांसी के एक दिन पूर्व इस प्रकार के वक्तव्य का प्रकाशित हो जाना मदनलाल और सावरकर के लिए तो गर्व की बात थी ही, पर इससे ब्रिटिश पुलिस की बहुत किरकिरी हुई। भरे चौराहे पर उसके झूठ का भांडाफोड़ हो गया। शेर को मांद में घुसकर उसका शिकार उठा लाने का यह दूसरा बड़ा उदाहरण था (कोरेगांवकर वाली पहली घटना हम बता ही चुके हैं)। यह बात पाठक स्वयं ही जान लेंगे कि अंगारों की भांति धधकते शब्दों से रचित मदनलाल का यह ऐतिहासिक अभिलेख वास्तव में सावरकर की लेखनी से ही स्फुरित हुआ था। मूल अंग्रेज़ी वक्तव्य का हिन्दी रूपान्तर[2] प्रस्तुत है—

"मैं मानता हूं कि मैंने एक अंग्रेज़ का रक्त बहाने का प्रयास किया। किन्तु

---

1 इस बात पर उर्दू का वह प्रसिद्ध शेर याद आ जाता है—
पसीना मौत का माथे पे आया, आइना लाओ,
हम अपनी ज़िन्दगी की आखिरी तस्वीर देखेंगे।

2. बनारसी सिंह : 'लन्दन में गोली', पृ० 72, 73, 74.

उसका उद्देश्य यही था कि अंग्रेज़ों ने जिस प्रकार भारतवर्ष के देश-भक्त युवकों को फांसी, काला पानी तथा लम्बी सजाएं देने का क्रम जारी रखा है—उसके प्रति मैं सांकेतिक विरोध प्रकट करूं। ऐसा करते समय मैंने अपनी आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी शक्ति से नहीं पूछा, न उसकी राय ली। मैंने जो कुछ किया, कर्त्तव्य के नाते ही किया।"

"मुझे विश्वास है कि जो देश विदेशी बारूद से बलपूर्वक शासित एवं आतंकित किया जाता है, वह देश सदैव युद्ध की ही स्थिति में बना रहता है तथा ऐसी दशा में शत्रु से प्रत्यक्ष संघर्ष असम्भव होता है। मुझे आक्रमण करने के लिए तोप तथा राइफल तो प्राप्त न हो सकी, अतएव मैंने सहसा ही अपनी रिवाल्वर से बाहर की ओर गोली चला दी।"

"एक हिन्दू के नाते मैं विश्वास करता हूं कि मेरे देश का जो अनादर-अपमान अंग्रेज़ कर रहे हैं, वह प्रत्यक्ष परमात्मा का ही अपमान है। मेरी मान्यता है कि देश का कार्य प्रभु राम और कृष्ण का ही कार्य है तथा देश-सेवा श्री राम तथा श्री कृष्ण की ही आराधना है। मेरे पास न धन है न कोई योग्यता ही है, अतः सिवाय अपने रक्त के यह अयोग्य पुत्र माता के पावन चरणों में और क्या अर्पित कर सकता है। उसी भावना से मैं सहर्ष बलिदान हो रहा हूं।"

"आज के समय में अपने प्रिय देश के लोग किस तरह स्वतन्त्रता अर्जित करने के लिए बलिदान दें तथा अपने जीवन का उत्सर्ग करें यह जान लेना प्रत्येक के लिए आवश्यक है। अन्य देश बन्धुओं को यदि ये संस्कार देने हों तो आत्मोत्सर्ग के द्वारा ही यह संभव हो सकते हैं और यह संघर्ष भारत तथा इंग्लैंड के मध्य तब तक जारी रहेगा जब तक इंग्लैंड हमारे देश को अपने अधीन बनाये रखेगा।

"हिन्दू होने के नाते मेरा विश्वास है कि आत्मा कभी नहीं मरती। अतः शरीर त्यागने से पूर्व प्रत्येक भारतीय दो अंग्रेज़ों को समाप्त करता चले तो देश की स्वतन्त्रता एक दिन में प्राप्त की जा सकती है। जब तक भारत स्वतन्त्र न हो जाय, श्री कृष्ण का देशवासियों के लिए यही संदेश है।

"मेरी अन्तिम कामना है कि फिर से भारत की ही गोद में शीघ्र ही जन्म लूं तथा पुनः देश को स्वतन्त्र कराने के कार्य में संलग्न हो जाऊं। मैं चाहूंगा कि मेरी पुनः मृत्यु होने तक मेरा प्रिय देश स्वतंत्र हो जाय। भारत के स्वतन्त्र होने तक मैं उस ध्येय के लिए बार-बार जन्म लूं और मृत्यु का वरण करूं। प्रभु मेरी यह प्रार्थना स्वीकार करें; मेरी यही कामना है।

"वन्दे मातरम्।"

यहां यह कहना भी अप्रासंगिक न होगा कि इस वक्तव्य के अन्तिम अंश को स्वयं विंस्टन चर्चिल ने, 'देशभक्ति के नाम पर अभिव्यक्त, सर्वोत्तम उद्गार' कहा था।...ऐसे शब्द जिन्हें सुनकर उसे 'यूनानी लेखक प्लूतार्क के अमर वीरों का

स्मरण हो आता है।' 17 अगस्त, सुबह 9 बजे कालेन्डोनियन मार्ग पर स्थित पेन्टोविल कारागार में भारत मां का यह निर्भीक सपूत हंसते-हंसते फांसी के तख्ते पर झूल गया।

'डेली न्यूज़' के अनुसार बन्दीगृह के सामने भारतीयों के अतिरिक्त दूसरे लोगों की भी खासी भीड़ जमा थी। 9 बजने के तुरन्त बाद ही जेल के एक अधिकारी ने बाहर आकर सूचना दी—"हर कार्य समयानुसार ठीक-ठाक हो गया है। मृत्यु भी तत्काल ही हो गयी है।"

पर वाह रे फिरंगी शासन ! एक समय आधे विश्व पर राज्य करनेवाली, न्याय एवं स्वतन्त्रता की दावेदार, अंग्रेज़ सरकार से एक शहीद की साधारण-सी अन्तिम इच्छा भी पूरी न की जा सकी। उन्होंने शव को न तो किसी मित्र-सम्बन्धी को सौंपा और न स्वयं ही उसका दाह-संस्कार किया। इसके विपरीत शव को जेल के अहाते में ही गाड़ दिया गया। शायद यह सोचा हो, कि भविष्य में फिर कभी इस व्यक्ति की शौर्य-गाथा सुनकर क्रोध भड़क उठे तो ओलिवर क्रामवेल की भांति उसके शव को फिर से खोदकर निकाल सकें और पुनः उस पर मुकदमा चलाकर इस बार उसका सिर काट सकें।

हां, मदन के भारतीय मित्रों, विशेषकर ज्ञानचन्द वर्मा ने अन्तिम क्रिया का दायित्व निभाकर अपना सिर भी मुंडाया। इसके 66 वर्ष बाद हमारी सरकार द्वारा धींगरा के अन्तिम पवित्र अवशेषों को अस्थि-कलश में सजाकर भारत लाया गया। 13 दिसम्बर, 1976 को इसे एक भव्य शोभा-यात्रा के रूप में (जिसमें प्रधान-मंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने भी पुष्पमाला अर्पित की) मदन के जन्म-स्थान अमृतसर ले जाया गया, जहां उसकी स्मृति में 'शहीद-स्मारक' बनाया गया है।

शहीद को श्रद्धांजलि

ठीक उसी दिन 17 अगस्त को लन्दन के भारतीयों ने एक शोक प्रस्ताव वितरित किया, जिसमें मदनलाल के बलिदान को अत्यन्त मार्मिक शब्दों में वर्णित किया गया था। निकटवर्ती आयरलैंड के सभी प्रमुख समाचार पत्रों ने धींगरा को 'शत-शत नमन', 'हुतात्मा मदनलाल अमर रहे', 'सच्चे सैनिक को अन्तिम प्रणाम' आदि शीर्षकों से श्रद्धा सुमन अर्पित किये। मदनलाल के अन्तिम शब्द 'वन्दे मातरम्' से ही प्रेरित होकर मदाम कामा और हरदयाल ने जेनेवा से इसी नाम का समाचार-पत्र निकाला। 10 सितम्बर, 1910 को प्रकाशित इसका प्रथम अंक 'अमर शहीद मदनलाल धींगरा' को ही समर्पित था। इसके तुरन्त बाद पेरिस से वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय द्वारा प्रकाशित 'तलवार' पत्रिका ने भी एक अंक इसी वीर की स्मृति में निकाला।

धींगरा व गांधी

पर यह कैसी विचित्र विसंगति थी कि जिस राष्ट्र के साहसी सपूत को देश-विदेश में इतना मान-सम्मान मिला, उसके अपने ही राष्ट्र के नेता महात्मा गांधी, जो उस समय लन्दन में ही थे, धींगरा के इस कृत्य को 'अधम', 'अमानवीय', 'कायरतापूर्ण', 'लज्जाजनक' एवं 'बर्बर' कहते हुए नहीं थके। मदनलाल का ऐतिहासिक वक्तव्य भी उन्हें मात्र बचकाना, रटा-रटाया और पगलाया हुआ लगा। धींगरा के प्रेरणा स्रोत पर सीधा प्रहार करते हुए गांधी ने इसे 'कुछ दुष्ट व्यक्तियों की निरर्थक रचनाओं से प्रेरित अमानवीय कुकृत्य' कहा। उन्होंने यह सिफारिश भी की कि ऐसे व्यक्तियों को कड़ी से कड़ी सज़ा मिलनी चाहिए। गांधी ने स्वयं तो इस व्यक्ति और इन रचनाओं का नाम नहीं लिया (या शायद ऐसा करने का साहस न कर सके) पर यदि पाठकगण उत्सुक हों तो हम बता दें कि यह 'दुष्ट व्यक्ति' कोई और नहीं, मदनलाल के गुरु सावरकर थे, और यह 'निकृष्ट रचनाएं' "मैज़िनी का जीवन", "स्वतन्त्रता का प्रथम समर", "हे हुतात्माओ' आदि वह रचनाएं थीं जिनके विषय में पहले ही काफी कुछ कहा जा चुका है।

पर कदाचित, इसमें राष्ट्रपिता का भी कोई दोष नहीं। उन्होंने इससे पहले भी चाफेकर बन्धुओं द्वारा रैंड की, कन्हरे द्वारा जैक्सन की और बाद में भगतसिंह व ऊधमसिंह द्वारा की गई राजनीतिक हत्याओं की भी घोर भर्त्सना की थी और इन सभी क्रान्तिकारियों को कायर, पागल व भटका हुआ कहा था। कहने को तो गांधी ने शिवाजी की वीरता व विजयों को भी 'दिशाभ्रमित देश भक्ति' की अनुपम संज्ञा[1] दी थी। हां, इस विषय में एक अपवाद है। 23 दिसम्बर 1926 को स्वामी श्रद्धानन्द की हत्या की गई थी। इनके हत्यारे अब्दुल रशीद को महात्मा गांधी ने 'मेरा भाई' कहकर सम्बोधित किया। इतना ही नहीं, मार्च 1926 को गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार की रजत जयन्ती के अवसर पर बोलते हुए स्वयं गांधीजी ने श्रद्धानन्द के हत्यारे के विषय में यह अमर वाक्य कहा—

"आप ऐसा क्यों सोचते हैं कि अब्दुल रशीद ने स्वामी श्रद्धानन्द की हत्या की ? ऐसा क्यों नहीं सोचते कि उसने स्वामीजी को अमर कर दिया।"

याद रहे, गांधी को 'महात्मा' कहने का श्रेय भी स्वामी श्रद्धानन्द को ही जाता है।

गांधी-सावरकर टकराव : ऐतिहासिक मुठभेड़

अब यह बात तो स्पष्ट हो चुकी है कि 1909 के उत्तरार्द्ध तक अब लन्दन में द

---

1. 'यंग इंडिया' : 9 अप्रैल, 1925.

सर्वथा प्रतिकूल विचारधाराएं चल रही थीं। यद्यपि, इन दोनों ही दृष्टिकोणों के प्रतिपादकों का गंतव्य एक ही था—विदेशी शासन से भारत-मुक्ति—पर समान साध्य होते हुए भी, साधनों में विभिन्नता के ये दो पैरोकार, छुटपुट रूप से एक दूसरे के तर्कों को काटते ही रहते थे। पर एक अवसर ऐसा भी आया जब इन दोनों को एक ही समय, एक ही मंच पर, और एक ही विषय पर अपने-अपने विचार प्रस्तुत करने की पूरी छूट मिली। यह सुयोग था रविवार, 24 अक्तूबर 1909 का विजयादशमी पर्व जिसे लन्दन के भारतीयों ने बेजवाटर के निकट स्थित निज़ामुद्दीन रेस्तरां में मनाने का निर्णय किया।

इस अवसर पर आमंत्रित व्यक्तियों में सावरकर के समर्थक एम० पी० तिरुमलाचारी, एस० एस० राजन व वी० वी० एस० अय्यर भी थे। एक और मज़े की बात। समारोह की अध्यक्षता के लिए अय्यर जब गांधीजी से मिले, तो वह तैयार तो तत्काल हो गए पर इस शर्त पर कि भोजन सब लोग मिलकर ही बनाएंगे और वह विशुद्ध शाकाहारी होगा। ध्यान देने की बात यह है कि 1906 के बाद यह गांधी का सावरकर के साथ दूसरा साक्षात्कार होने जा रहा था। और यह भी, कि पहली भेंट में हुई सावरकर से मछली व मगरमच्छ वाली बात का कांटा उनके गले में चुभ रहा था। इसलिए शाकाहारी भोजन की इस शर्त को पहली भेंट से जोड़ना असंगत न होगा।

बढ़िया से विलायती सूट में सजे-धजे गांधी समय से पूर्व ही आकर रसोई में औरों की तरह काम पर लग गए। बाद में अय्यर ने आकर जब उन्हें उबले हुए आलू छीलते देखा तो हंसते हुए यह कहकर हटा दिया—"अरे भई, इन्हें तो आज सभापतित्व के लिए बुलाया गया है।"

लगभग 70 आगन्तुकों की इस सभा को सम्बोधित करते हुए गांधी ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा—

"चाहे कोई हिन्दू हो, मुस्लिम अथवा पारसी, उसे इस बात पर गर्व होना चाहिए कि वह उस देश का वासी है जहां श्रीराम का जन्म हुआ था। इसी भारत में यदि फिर से राम-सीता, लक्ष्मण व भरत सरीखे व्यक्ति उत्पन्न हों तो यह देश पुनः उतना ही समृद्ध हो सकता है।"

श्रीराम के व्यक्तित्व के विविध आयामों पर प्रकाश डालते हुए गांधी ने कहा—"यदि भारतीयों में भी राम के समान 12 वर्ष[1] तक ब्रह्मचर्य पालन व बनवास

1. 14 वर्ष के स्थान पर 12 वर्ष देखकर पाठक चौंकें नहीं। गांधी के मूल साहित्य ('केलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी', खण्ड IX, पृ० 499) में से उद्धृत यह अंश छपाई की भूल कदापि नहीं है। चौंका इस बात पर जा सकता है कि राम के ब्रह्मचर्य को आदर्श मानने वाले गांधी ने स्वयं लंदन में अपने अध्ययन काल में स्वयं के विवाहित होने की बात छुपाकर रखी थी।

भोगने की शक्ति, सीता की पति-परायणता, भरत का भ्रातृ प्रेम व लक्ष्मण की सेवा भावना जैसी उदात्त प्रवृतियां जागृत हों तो भारत भी शीघ्र ही स्वतंत्र होकर रहेगा।'

पर इसे काल का क्रूर व्यंग्य कहा जाए अथवा नियति का परिहास कि गांधी के शब्दों के अनुरूप जब इस देश ने विनायक सावरकर, यमुनाबाई, बाबाराव व नारायण राव के रूप में सचमुच क्रमश: राम, सीता, लक्ष्मण व भरत को पा लिया, तो किसी ने भी उनके गुणों और बलिदान को नहीं आंका। स्वयं गांधी ने तो बिल्कुल ही नहीं। इतना ही नहीं, गांधी हत्या की सबसे बड़ी कीमत भी इसी सावरकर परिवार को चुकानी पड़ी। विनायक सावरकर के सर्वथा निर्दोष सिद्ध हो जाने के बाद भी उन्हें दी गई निरन्तर यातनाओं एवं अवहेलनाओं से सभी परिचित हैं। यह बात सर्वविदित नहीं है कि 31 जनवरी 1948 को, जब सैकड़ों-हज़ारों मराठा ब्राह्मणों के परिवारों पर आक्रमण करके उनके घरों को आग लगा दी गई, तब पागल भीड़ ने सावरकर-सदन पर हमला करने के बाद, समीप ही रह रहे छोटे भाई डा० नारायणराव को भी मार-मारकर ऐसा बेहाल कर दिया कि वह उसके बाद पूर्णरूपेण स्वस्थ नहीं हुए और उसी वर्ष 19 अक्तूबर को चल बसे। अच्छा ही हुआ, कि यह दुर्दिन देखने के लिए उनके बड़े भाई बाबाराव और भाभी यमुनाबाई जीवित नहीं थे।

राम सावरकर समानता

श्रीरामचन्द्र के जीवन के कई पक्षों का सावरकर के जीवन से साम्य प्रस्तुत करना भले ही दूर की कौड़ी मालूम दे, पर सर्वथा निरर्थक हो, ऐसा भी नहीं। अपने पिता एवं माता केकई की आज्ञा मानकर राम का 14 वर्ष का कठिन बन-वास क्या सावरकर के 26 वर्ष के कठोर कारावास से अधिक विकट है : ग्यारह वर्ष का समय तो उन्होंने अंडमान की काल कोठरी में ही काटा। उनकी यह कष्ट भोग केवल अपने माता-पिता के लिए न होकर, पूरे देश की जननी जन्म भूमि भारत मां के लिए था। सीता मां की व्यथा भी कम कष्टकर नहीं थी। पर वन में उन्हें कम से कम अपने पति व देवर का सान्निध्य तो प्राप्त था जबकि सावरकर की पत्नी यमुनाबाई विवाह के केवल 5 वर्ष पश्चात्, 1906 में सावरकर के लंदन गमन के बाद, बिल्कुल अकेली रह गईं। अंडमान में संक्षिप्त भेंट के अतिरिक्त सही अर्थों में इस दम्पति का पुनर्मिलन 20 वर्ष बाद ही हो पाया, जब सावरकर को अंडमान से स्थानान्तरित कर 1925 में रत्नगिरी लाया गया था।

लक्ष्मण और उर्मिला के समान बाबाराव और उनकी पत्नी यसुबाई की व्यथा-कथा में भी अद्भुत साम्य है। यसुबाई की पीड़ा, उर्मिला की विरह पीड़ा से कहीं अधिक रही। राम और लक्ष्मण की भांति विनायक व बाबाराव को भी

लगभग एक ही समय आजीवन कारावास देकर देश से निष्कासित किया गया। अंडमान जेल में कुछ ऐसी व्यवस्था की गई कि दोनों भाई, एक-दूसरे से मिलना तो दूर, एक-दूसरे के विषय में भी न जान सकें। 1911 से 1921 तक के दस वर्षीय कठोर कारावास में ये दोनों भाई कदाचित् एक या दो बार ही आपस में मिल पाए, यहां तक कि दोनों को एक-दूसरे के वहां होने का पता भी कई वर्षों बाद ही लग पाया।

उर्मिला की विरह-वेदना और व्याकुल प्रतीक्षा का अन्त 14 वर्ष के अंतराल पर पति मिलन से हुआ। पर अभागी यसुबाई का विरह व प्रतीक्षा अन्तहीन ही रहे। बेचारी दस वर्षों तक समाज की अवहेलना व प्रताड़ना सहती रही और अन्ततः 1919 में सर्वथा एकाकी, निर्धनता व मानसिक विक्षिप्तता के बीच तिल-तिल कर चुकती अपने सच्चे देश प्रेमी पति से मिलने की झूठी आस लिए तड़प-तड़पकर चल बसी। इस पर नियति का यह खेल, कि जब उसे अपने पति के पास जाकर मिलने की आज्ञा मिली तब तक क्रूर काल उसे अपने आंचल में समेट चुका था।

14 वर्ष के बाद राम का अयोध्या आगमन मानो पतझड़ के बाद वसन्तागमन था। नगरवासियों से उन्हें मान-सम्मान तो मिला ही, साथ ही अपना खोया हुआ सिंहासन भी। इतने कष्ट व क्लेश के बाद यह प्रतिदान हर दृष्टि से न्यायोचित था। पर सावरकर बन्धुओं को अपने त्याग व बलिदान के बाद भी क्या मिला। उन पर बार-बार सन्देह किया जाता रहा। कई झूठे-सच्चे अभियोग लगाए गए, तरह-तरह से लांछित, दंडित व अपमानित किया गया। विनायक सावरकर के साथ जैसा दुर्व्यवहार स्वतन्त्रता के बाद इस देश की सरकार ने किया, ऐसा परतन्त्र भारत में विदेशी सरकार ने भी नहीं किया।

इसी प्रकार, जब हम राम द्वारा राक्षसों के वध को असत्य पर सत्य की एवं बुराई पर भलाई की विजय मानते हैं, तब सावरकर व उनके साथियों द्वारा गोरे आततायियों, कर्जन वायली, जैक्सन, रैण्ड, सांडर्स, ओ डायर आदि के वध को निन्दनीय क्यों माना जाता है ? इन हत्याओं की सबसे घोर निन्दा करने वाले वही गांधी थे जो स्वयं इस देश में 'राम-राज्य' की स्थापना का स्वप्न देखा करते थे।

निष्कर्ष यह कि जहां राम ने अपनी जननी के अनुरोध पर बनवास स्वीकार किया वहां सावरकर अपनी मातृभूमि के लिए निष्कासित रहे। श्री राम ने लंका जाकर बन्दी सीता को मुक्त कराया, तो सावरकर ने इंग्लैंड और बाद में अनेक जेलों में जाकर दासता की बेड़ियों में जकड़ी भारत मां को विदेशी दानवों से मुक्त कराया। राम को सीता तक पहुंचने के लिए नल-नील जैसे वानरों की सहायता मिली थी पर जब सावरकर पर ऐसे संकट की घड़ी आई, तो वह स्वातंत्र्य-लक्ष्मी की जयकार करते हुए तूफानी समुद्र में अकेले ही कूद पड़े। जहां राम के

कष्टों को बांटने के लिए लक्ष्मण व सीता भी थे, वहां सावरकर ने सारा दुख अकेले ही झेला। उन्हें बलिदान का पुरस्कार यह मिला कि मातृभूमि के स्वतन्त्र होने के बाद शासन ने उनकी सारी निजी एवं पैतृक सम्पति ज़ब्त[1] कर ली जो आज तक लौटाई नहीं गई। और, तो और उनकी साहित्यिक कृतियों पर लगा प्रतिबन्ध भी बहुत समय बाद हटा। यह उस समय की बात है जब उनकी रचनाएं अनूदित रूप में विश्व के सभी देशों में पढ़ी और सराही जाती थीं।

सावरकर का विजयादशमी सन्देश

गांधी के बाद सावरकर ने मंच पर आकर रामायण के महत्व की इन शब्दों में व्याख्या की—

"प्रत्येक भारतीय जानता है कि विजयादशमी से पूर्व देवी दुर्गा की स्तुति में नवरात्रि पर्व मनाया जाता है। इस देवी की स्तुति शक्ति अर्जित करने के लिए की जाती है। स्वयं राम ने भी रावण वध से पूर्व इसीलिए शक्ति की अराधना की थी, तभी वे राम-राज्य स्थापित करने में सफल हुए थे।"

भाषण के अन्त में भारत की विविधता में एकता का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा—

"यह ठीक है कि हिन्दुस्तान हिंदुओं का है। फिर भी, जिस प्रकार इन्द्रधनुष का सौन्दर्य बहुरंगी होने से बहुगुणा हो जाता है, उसी प्रकार भारत के भविष्य का आकाश भी उतना ही सुनहरा हो सकता है यदि वह मुस्लिम पारसी, यहूदी व अन्य संस्कृतियों के सर्वोत्तम गुणों को ग्रहण कर ले।"

वर्ष के अन्तिम दो मास

1909 के अन्तिम दो मास कदाचित सावरकर के सम्पूर्ण लन्दन प्रवास के सबसे दुर्भाग्यपूर्ण सिद्ध हुए। उन पर टूटने वाली विपदाओं का ऐसा अविराम क्रम चल पड़ा कि अभी वह एक से उबर नहीं पाते कि दूसरी आ दबोचती। अंग्रेजों की गिद्ध दृष्टि अब इंडिया-हाउस पर दिन रात चौकसी रखती। हर आने-जाने वाले को कुरेदा जाता। धींगरा के छिपाए गए वक्तव्य के पुन: प्रकाशन से अंग्रेज़ जासूसों को जो मुंह की खानी पड़ी उससे उनका आक्रोश और भी गहरा हो गया।

---

1. 1910 में ज़ब्त इस सम्पति का तत्कालीन मूल्य लगभग 27000 रु० था। इसमें उनका निवास स्थान, कपड़े, जेवर, पुस्तकें व अन्य सभी वस्तुएं शामिल थीं। नासिक में बाबाराव का मकान खाली कराते समय घर के चूल्हा-चाकी, भांड़े बर्तन भी नीलाम कर दिए गए। घर में अकेली रह रही यसुबाई को भी बाहर लाकर सड़क पर पटक दिया गया।

वह निरन्तर बदले की ताक में थे। वक्तव्य की तकनीकी छान-बीन से पता लगा कि यह फ्रांसीसी भाषा के अक्षरों में छापा गया था। अतः पहला सन्देह पेरिस में रह रहे श्यामजी पर गया। पर उनका कुछ न बिगाड़ पाने की खीझ उनके पत्र के मुद्रक गॉय अल्ड्रेड[1] पर उतरी। उसे गिरफ्तार कर लिया गया।

उधर भारत में यही हाल सावरकर के संगी-साथियों तथा सम्बन्धियों का हुआ। बड़े भाई बाबाराव को पहले ही राजद्रोही रचनाओं के आरोप में अंडमान भेज दिया गया था। अब परिवार के अन्य सदस्यों को तरह-तरह से सताया जाने लगा। 13 नवम्बर को कर्णावती (अहमदाबाद को सावरकर द्वारा दिया गया नाम) में वायसराय लार्ड मिन्टो की हत्या का असफल प्रयास हुआ। बम फेंकने वाला एक गुजराती तरुण मोहनलाल पंड्या था जो सावरकर के अनुज बाल (नारायण) सावरकर से भी परिचित था। बस, इतनी-सी बात पर बाल को भी, जो उस समय केवल 19 वर्ष का था, पकड़ लिया गया।[2] काफी समय बाद एक प्राचार्य के बयान के आधार पर, कि घटना के समय उसने बाल को पूना में देखा था, उसे छोड़ा गया।

अपने साथियों, सम्बन्धियों के प्रति बढ़ते हुए सरकारी प्रतिशोध के घिनौने रवैये ने पहले से ही खंडित सावरकर को और भी जर्जर कर दिया। तन-मन-धन से व्यथित एवं शिथिल सावरकर ने अपनी पूज्य भाभी यसु वहिनी को, जिसे वह अपनी मित्र, साथी, मां सभी का सौहार्दपूर्ण सामंजस्य कहते थे, एक मार्मिक पत्र

---

1. यह बात बड़े महत्व की है कि गॉय अल्ड्रेड भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के लिए जेल जाने वाला पहला अंग्रेज़ था। अदालत में भी अपने मुकदमे की पैरवी करते हुए उसने कहा था—"1857 की महाक्रान्ति को 'बलवा' या 'बगावत' कहना सत्य को छिपाना व इतिहास के साथ अन्याय करना है।" बो स्ट्रीट एवं बैली न्यायालयों में दिए गए इस कथन ने इंग्लैंड के समाचार जगत में तहलका मचा दिया। कई समाजवादी संस्थाओं ने उसे 'देशद्रोही' भी कहा। आजीवन सावरकर के समर्थक व प्रशंसक गॉय ने 1948 में ग्लासगो से अपने पत्र का एक 'सावरकर विशेषांक' भी निकाला। 8 नवम्बर 1963 को उसका निधन हुआ। सावरकर की उत्कट इच्छा थी कि "मेरी जीवनी लिखने वाला कोई भी लेखक गॉय के विषय में लिखना न भूले।"
2. 1910 में जब सावरकर को बम्बई में थाणे बन्दी गृह में रखा गया तो उन्हें पता चला कि बाल सावरकर भी वहीं है और बाबाराव अंडमान भेज दिए गए हैं। इस प्रकार जाकर पूरी हुई सावरकर की वह बाल प्रतिज्ञा जो उन्होंने अष्टभुजा देवी के समक्ष ली थी—"चाहे हम तीनों भाइयों की भी वह नियति हो, जो चाफेकर बन्धुओं की हुई।"

लिखा। शीर्षक था—'सांत्वना', और यही इस काव्यमय पत्र का आशय भी था। पत्र के कुछ पद्यांशों का सार इस प्रकार है—

"अनेक पुष्प खिलते हैं और खिल कर मुर्झा जाते हैं पर कोई उनकी गिनती नहीं करता। किन्तु गजेन्द्र की सूंड द्वारा भगवान के श्रीचरणों में समर्पित पुष्प अमर हो जाता है। इसी प्रकार हम तीनों भाई भी कमल पुष्प की भांति भगवान श्रीहरि (मातृभूमि) के चरणों में समर्पित होकर अमर हो जाएंगे।"

मन में यह बात लिए कि बाबाराव को आजीवन कारावास देकर सरकार उनके वंश का बीज ही नष्ट कर देना चाहती है, उन्होंने इस पत्र में लिखा—"दैव कार्य के हेतु बीज नाश (निर्वंश) होने वाली वंश लता अमर हो जाती है और उसकी लोकहित परिमल की सुगन्ध से समस्त दिशाएं सुरभित हो उठती हैं।"

सौ० कुसुम तांबे[1] द्वारा किया गया इस पत्र का काव्यमय रूपान्तर भी प्रस्तुत है—

जिसको तुमने सुत सा पाला
मां का अभाव भी भर डाला।।
हे भाभी, वत्सल, सुमंगला।
वह भाई वन्दन करता है।।

यह देश हमारा दिव्य, धन्य।
ईश्वर के ही हम अंश मान्य।।
या राम-भक्ति का पल अनन्य।
मानवी रूप धर आता है।

उपवन में फूल कई खिलते।
खिलकर बस मिट्टी में मिलते।।
उनका महत्व क्या? मुरझाते,
क्या कोई गणना करता है?

पर जिसको तोड़ा गजेन्द्र ने।
श्रीहरि पद पर अर्पण करने।।

---

1. दिल्ली में आयोजित एक 'सावरकर काव्य सन्ध्या' के अवसर पर उन्होंने स्वयं भी यह व कुछ अन्य प्रसिद्ध गीत सस्वर प्रस्तुत किए थे। इस अवसर पर उनके भाई श्री वसन्त साठे भी उपस्थित थे।

वह कमल पुष्प प्रेरणा बने।
चिरकाल अमर पद पाता है ॥

ऐसे ही खिलकर सभी सुमन ।
श्री राम-चरण में हों अर्पण ॥
कुछ सार्थक हो यह नश्वर तन ।
मन यही कामना करता है ॥

जो स्वदेश को प्राणार्पण कर।
निर्वंश हुआ, वह वंश अमर ॥
जन सेवा का सौरभ सुन्दर ।
वह दिग्-दिगन्त में भरता है ॥

ब्रिटिश पुलिस के चंगुल से बचते-बचाते, तन-मन-धन से विश्रृंखलित सावरकर कभी इधर जाते, तो कभी उधर। कुछ समय के लिए वे विपिनचन्द्र पाल के घर भी ठहरे। कहते हैं, एक ही रात में सावरकर को बचने के लिए तीन ठिकाने बदलने पड़े। अन्ततः शरण मिली 'रेड लाइन पैसेज' नामक गन्दी गली में एक जर्मन महिला के घर। डेविड गार्नेट ने इस सड़ांध भरे, बदबूदार स्थान को देखकर इसे एक ऐसा स्थल कहा था, जिसमें घटिया मयखाने और पागलखाने का मिला-जुला माहौल था।

पर यहां भी डेविड ने सावरकर को सदा, 'शान्त, गम्भीर व स्वप्नों में डूबा हुआ' पाया। कुछ दिनों इस खोली में रहकर वह लुकते-छुपते निकट के ब्राइटन नगर पहुंचे। वहां, 10 दिसम्बर 1909 की एक सांझ को सूर्यास्त के समय ब्राइटन सागर-तट पर बैठे, लोगों की चहल-पहल व खेलते-दौड़ते बच्चों को देख, उनके मन का सागर भी देश-प्रेम की हिलोरें लेने लगा, उनकी आंखें डबडबा आईं, होंठ कुछ बुदबुदाए और स्वतः एक ऐसा गीत फूट पड़ा, जो न केवल देश-प्रेम की दृष्टि से वरन भाषा व काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से भी विश्व साहित्य की किसी भी रचना के समक्ष रखा जा सकता है। 'सागरास' (सागर को) शीर्षक इस कविता को आचार्य काका कालेलकर व आचार्य अत्रे जैसे आलोचकों ने भी मराठी साहित्य की मुकुट मणि कहा है। सुश्री लता मंगेशकर एवं श्री सुधीर फड़के के स्वरों में इस गीत को सुनकर कोई भी विह्वल हो उठता है।[1] श्रीमती तांबे ने इस गीत का

1. सावरकर जन्म-शती के उपलक्ष्य में विशेष रूप से तैयार कैसेटों में भी यह और उनके कई गीत महाराष्ट्र के प्रतिष्ठित कलाकारों ने प्रस्तुत किए हैं।

काव्यानुवाद भी बहुत सरस व सुन्दर ढंग से किया है ।

लौटा ले चल, मातृभूमि को प्यारी ।
सागर, मन आकुल भारी ।।
तू माता के चरण-तलों को धोता । मैं नित्य देखता रहता ।
बोला मुझसे चल विदेश हो आएं । विश्व की विविधता पाएं ।
सुन मां का मन शंकित घबराया । तुमने विश्वास दिलाया ।
मैं स्वयं इसे ढोकर जग दिखलाऊं । जल्दी ही वापस लाऊं ।
विश्वास किया तब वचनों पर
जगदनुभव से शिक्षा पाकर
सोचा मां मुक्त करूं सत्वर
मां से यह ही कहकर की तैयारी । सागर मन आकुल भारी ।।

शुक पिंजर में, हरिण जाल में जैसा । मैं फंसा यहां पर वैसा ।
अब माता का विरह सहा न जाए । अंधियारी दसों दिशाएं ।
गुण सुमन किए एकत्रित इस कारण । सुरभित हो मां का कण-कण ।
यह विद्या का भार व्यर्थ ही ढोया । जो मां के काम न आया ।
वह आम्रवृक्ष सी वत्सलता
नव कुसुमयुता वह मंजुलता
वह बाल गुलाब सदा खिलता
मुझसे बिछड़ी वह अनुपम फुलवारी । सागर मन······

नभ में तारे असंख्य, पर है अति प्यारा । मुझको भारत मां का तारा ।
प्रासाद यहां विशाल अति मनिहारी । मां को कुटिया ही प्यारी ।
बिन माता के राज्य व्यर्थ यह सारा । मां के संग बन भी प्यारा ।
अब व्यर्थ भुलावा क्यों देता?
जो तुमको अति प्यारी सरिता ।
उसकी ही शपथ तुम्हें देता ।
मन भोग सकें । विरह व्यथा दुखकारी । सागर मन···

रे निर्दय ! क्यों वचन भंग है करता ? क्यों फेन हास्य बिखराता ?
स्वामिनी बनी आंग्लभूमि जो तेरी । क्या उसकी यह बरजोरी ?
मां को अबला समझ वंचना करता । मुझको निर्वासित करता ।
तुमको अगस्ति ने पी डाला
था एक घूंट में, क्यों भूला ?
उसकी माता कैसी अबला ?
कह आंग्लों से उसकी महिमा न्यारी । सागर मन······

इसी आहत अवस्था में सावरकर को एक और आघात लगा। 22 दिसम्बर को एक सांध्यकालीन समाचार पत्र से सावरकर को पता लगा कि 21 दिसम्बर को नासिक में एक 16 वर्षीय चितपावन ब्राह्मण तरुण अनन्त कन्हरे ने वहां के विजयानन्द थियेटर में नगर के कलेक्टर, जैक्सन[1] की गोली मारकर हत्या कर दी। पूछताछ करने पर पता चला कि जिस पिस्तौल से उसे मारा गया वह उन्हीं ब्राउनिंग पिस्तौलों में से एक थी, जो सावरकर ने चतुर्भुज अमीन के हाथों भेजीं थीं, बस, फिर क्या था, फिरंगी हुकूमत ने नगर में कहर बरपा कर दिया। हज़ारों लोगों की पकड़-धकड़ हुई; फिर पूछ-ताछ और मार-पीट। सारा शहर उजड़ा हुआ लगता था। 'नासिक षडयन्त्र' के नाम से प्रसिद्ध इस ऐतिहासिक मुकदमे में अन्ततः 36 व्यक्तियों पर अभियोग लगाया गया। इसका विस्तृत उल्लेख अगले अध्याय में होगा।

तेज़ी से बदलते घटना-चक्र ने सावरकर को बहुत वेग से झकझोर दिया। उसके लिए अब लन्दन में एक-एक पल बिताना भारी हो रहा था। इन परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए और उधर फ्रांस में सावरकर के अनुयायियों द्वारा निरन्तर आमन्त्रण के फलस्वरूप उन्होंने यही उचित समझा कि, चाहे कुछ समय के लिए ही सही, उन्हें इंग्लैंड छोड़कर पेरिस चले जाना चाहिए। वर्ष के परिवर्तन के साथ सावरकर ने भी देश-परिवर्तन का निर्णय लिया। 8 फरवरी 1910 को वे लंदन से पेरिस के लिए रवाना हुए। ज्ञानचन्द्र वर्मा ने, जो उस दिन सावरकर के साथ थे, इस विदाई दिवस का वर्णन इन शब्दों में किया है—

"जब विपदाएं आती हैं तो इनका तांता-सा लग जाता है। सावरकर गम्भीर रूप से बीमार पड़े। फिर उन्हें दोहरा निमोनिया हो गया। उनके चिकित्सकों ने उन्हें इंग्लैंड के जाड़े से बचने के लिए फ्रांस जाने की सलाह दी। उस दिन उन्होंने किसी भारतीय होटल में जाकर कढ़ी-चावल खाने की इच्छा प्रकट की। पर उनकी कमज़ोरी देखते हुए मैं स्वयं जाकर उनके लिए निज़ामुद्दीन होटल से भोजन ले आया, जो उन्होंने जी भरकर खाया। फिर कुछ अन्य मित्रों के साथ उन्हें विक्टोरिया स्टेशन पर विदा करने गया। स्वतन्त्र सावरकर के रूप में यह उनके अन्तिम दर्शन थे।"

---

1. सुसंस्कृत एवं संस्कृत ज्ञाता जैक्सन (जिसे लोग पंडित जयकिशन भी कहते थे) अपनी विदाई वेला पर 'शारदा' नामक नाटक देखने आया हुआ था। यह नाटक वहां की किर्लोस्कर कम्पनी खेला करती थी।

1910

पेरिस, मार्सेल्स और हेग

अस्वस्थ और दुर्बल होते हुए भी, सागर की लहरों की तरह निरन्तर संघर्षरत सावरकर को पेरिस में चुपचाप बैठे रहना दुष्कर था। यहां वह मदाम कामा[1] के घर ठहरे और शीघ्र ही अपनी लन्दन वाली गतिविधियों में फिर से व्यस्त हो गए। धीरे-धीरे उन्होंने पेरिस में भारतीय व अन्य देशों के क्रान्तिकारियों से सम्पर्क बढ़ाया और नयी योजनाएं बनाने लगे। उधर भारत में जैक्सन हत्या अभियोग को लेकर जो खोजबीन शुरू हुई। उसमें कई नए तथ्य उभरकर आए। इसमें सबसे महत्वपूर्ण जानकारी यह थी कि अनन्त कन्हरे द्वारा प्रयोग की गयी पिस्तौल, जो सावरकर ने भेजी थी, किसी फ्रांसीसी कम्पनी में बनी थी। ब्रिटिश पुलिस ने इस बात को लेकर सरदार सिंह राणा, श्यामजी कृष्ण वर्मा व मदाम कामा को भी लपेटना चाहा क्योंकि ये तीनों ही पेरिस में कार्यरत थे। यह भी स्पष्ट था कि यह आंच सावरकर पर भी आयेगी जो इन्हीं लोगों के साथ रह रहे थे।

स्थिति की जटिलता को देखते हुए मदाम कामा ने पेरिस स्थित ब्रिटिश दूतावास को एक पत्र लिखकर इस पिस्तौल कांड का सारा दायित्व अपने ऊपर लेने की घोषणा की। पुरुषों को बचाने के लिए किसी महिला द्वारा ऐसे अदम्य साहस का परिचय देने की इतिहास में यह अभूतपूर्व घटना है।

पर ब्रिटिश सरकार—विशेष रूप से भारत के अंग्रेज़ अधिकारी—इतनी सरलता से सावरकर प्रसंग को दबाने या समाप्त करनेवाले नहीं थे। वह तो हाथ धोकर सावरकर के पीछे पड़े थे और किसी भी तरह उन्हें कुटिल चक्रव्यूह में फंसा देना चाहते थे। इस काम का बीड़ा उठाया तत्कालीन बम्बई के राज्यपाल जार्ज क्लार्क ने, जिन्हें बाद में लार्ड सिडिनहम भी कहा गया। उन्होंने नासिक के एक विशेष न्यायाधीश मान्टगोमरी से सावरकर के विरुद्ध ऐसी सामग्री जुटाने को कहा जिसके आधार पर उनके विरुद्ध मुकदमा चलाया जा सके। तदनुसार 17 जनवरी

1. विश्व शान्ति के लिए नोबेल पुरस्कार विजेता, आयरलैंड निवासी श्री सीन मैकब्राइड (जो अब भी डबलिन में रहते हैं) उस समय अपने बाल्यकाल में मदाम कामा के घर ही रहते थे। वह आज भी सावरकर और मदाम कामा को अपनी 'प्रथम राजनैतिक प्रेरणा' मानते हैं।

को मांटगोमरी के न्यायालय में एक शिकायत दर्ज करायी गयी, जिसमें भगोड़े अपराधी अधिनियम, 1881 के अन्तर्गत, बम्बई सरकार द्वारा एक तार वारण्ट लन्दन भेजा गया। यह वारण्ट 22 जनवरी, 1910 को बोस्ट्रीट न्यायालय द्वारा स्वीकार किया गया। इसमें सावरकर के विरुद्ध निम्न पांच अभियोग लगाये गये थे :

(1) भारत के अंग्रेज़ी शासन के विरुद्ध षडयन्त्र रचना;
(2) ब्रिटिश सम्राट को प्रभुसत्ता से वंचित करने का प्रयास;
(3) अवैध शस्त्रास्त्रों का संग्रह-वितरण तथा जैक्सन व कर्ज़न वायली की हत्याओं के लिए प्रोत्साहन;
(4) लन्दन में शस्त्रों का संग्रह व भारत को निर्यात;
(5) भारत में जनवरी 1906 से मार्च 1906 तक तथा लन्दन में 1908 से 1909 तक राजद्रोहात्मक भाषण देना।

वी० वी० एस० अय्यर, जो अभी लन्दन ही में थे, इन सारी गतिविधियों से सुपरिचित थे। उन्होंने तुरन्त सावरकर को इस नये कुचक्र से अवगत कराते हुए सावधान रहने को कहा। पर सावरकर सम्भलने की बजाय और भी भड़क उठे —

"नहीं, नहीं !···यह असम्भव है, यह मुझसे नहीं होगा। वहां इंग्लैंड व भारत में मेरे सगे-सम्बन्धियों व साथियों पर मुसीबतों का पहाड़ टूट रहा है और मैं यहां पेरिस के रंगीन उद्यानों में मौज-मस्ती कर रहा हूं। यह मेरे लिए असहनीय व लज्जा की बात है। चाहे मेरे विरुद्ध कितना भी भीषण षडयन्त्र हो और इसके लिए मुझे कितना ही बड़ा बलिदान देना पड़े फिर भी मैं जाऊंगा अवश्य। मुझे कोई नहीं रोक सकता।"

मदाम कामा, श्यामजी व अन्य साथियों ने उन्हें बार-बार समझाया कि वह सिपाही नहीं, सरदार हैं और कोई भी सरदार मोर्चे पर आगे बढ़कर, जान-बूझकर, मौत के मुंह में नहीं कूदता। उसे पीछे रहकर सैनिकों का मार्ग निर्देशन करना होता है। मदनलाल धींगरा ने यही बात बहुत पहले कह दी थी—"यदि आप जीवित रहे तो सैकड़ों धींगरा पैदा हो जाएंगे, पर यदि आप ही न रहे, तो हम सरीखे सैकड़ों मिलकर भी एक सावरकर नहीं बना पाएंगे।"

पर सावरकर ने एक बार जो निर्णय ले लिया उसे बदल पाना बहुत कठिन था। उनके लिए यह 'अभी या कभी नहीं' की घड़ी थी। अत: सारे अनुनय-विनय, प्रार्थना-अनुरोध, आदेश व चेतावनियों के बावजूद यह वीर सावरकर, वीर अभिमन्यु की भांति ब्रिटिश चक्र-व्यूह को भेदकर करने या मरने को कटिबद्ध, वापस लन्दन चल पड़ा। पेरिस स्टेशन पर उन्हें अन्य साथियों के अतिरिक्त मदाम कामा एवं लाला हरदयाल ने भारी मन व शुभेच्छाओं के साथ विदा किया। जैसे ज्ञानचंद

वर्मा ने उन्हें 4 जनवरी को लन्दन स्टेशन पर अन्तिम बार देखा था, वैसे ही सावरकर के शब्दों में 'मेरे लिए, मेरे परममित्र हरदयाल के, यह अन्तिम दर्शन थे।'

13 मार्च का वह मनहूस दिन

अन्धविश्वासों के जगत में और विशेषकर इंग्लैंड में तीन व तेरह का अंक भयंकर रूप से अशुभ माना जाता है। इसे संयोग कहिए या कुछ और पर यह भी तीसरे महीने की तेरह तारीख ही थी जब सावरकर को लन्दन के विक्टोरिया स्टेशन पर उतरते ही गिरफ्तार कर लिया गया। अभी उन्होंने रेल के डिब्बे से उतरकर प्लेटफार्म पर पैर रखा ही था कि स्वयं को कई सिपाहियों से घिरा पाया। स्काटलैंड यार्ड के इंस्पेक्टर ई०जॉन पारकर के पूछने पर—"क्या आप ही महाशय सावरकर हैं ?" सावरकर ने शान्ति से उत्तर दिया—"जी हां !" अगले ही क्षण उन्हें वारण्ट दिखाकर हथकड़ी पहना दी गयी। उनके साथ दादा भाई नौरोजी की पौत्री कु० पेरीबेन भी थी, पर उन्हें छोड़ दिया गया। निकटवर्ती बो स्ट्रीट पुलिस थाने ले जाकर उनके सामान की तलाशी ली गयी। दो-चार जोड़ी कपड़ों के अतिरिक्त जो सामान मिला वह था 1857 के स्वातंत्र्य समर की दो प्रतियां, एक प्रति मैज़िनी का जीवन चरित्र व समाचार पत्रों की ढेरों कतरनें।

ब्रिटिश पुलिस अपनी इस उपलब्धि से इतनी आनन्दित थी कि उसने अपनी इस 'विजय गाथा' को बड़े ही नाटकीय ढंग से समाचार-पत्रों में प्रस्तुत किया। इसका एक अंश यह भी था कि उसने सावरकर को बुलाकर पकड़ने के लिए जो जाल बिछाया था उसमें सावरकर की 'तथाकथित' अंग्रेज़ प्रेमिका कु० लारेन्स मार्गरेट द्वारा लिखा गया एक 'झूठा पत्र' भी था जिसमें इस विशेष दिन सावरकर को अपनी वर्ष-गांठ पर बुलाने का निमन्त्रण था। पता नहीं, इस कहानी में कितना दम है पर यदि है भी तो महिला के नाम पर एक वीर-पुरुष को इस तरह धोखे से गिरफ्तार करना, स्कॉटलैंड यार्ड जैसे शक्तिशाली संगठन के लिए गर्व के बजाय लज्जा की ही बात है।

सावरकर की गिरफ्तारी से मानो सम्पूर्ण भू-मंडल हिल उठा। भारत ही नहीं, समस्त संसार के स्वतंत्रता प्रेमी इस घटना पर अवाक् रह गए। हर ओर उन्हें बचाने व छुड़ाने की योजनाएं बनने लगीं।

अगले दिन 14 मार्च को जब सावरकर बो स्ट्रीट पुलिस न्यायालय में लाये गये तो वह दर्शकों से खचाखच भरा था। 'लन्दन टाइम्स' के अनुसार, बीच में कई बार सावरकर का जयजयकार हुआ। रेजीनेल्ड वॉन नामक विख्यात वकील ने न्यायाधीश सर एलबर्ट रटज़न के समक्ष सावरकर की ज़मानत का आवेदन प्रस्तुत किया, पर इसे अस्वीकार कर दिया गया। फलस्वरूप 20 मार्च को उन्हें ब्रिक्स्टन

बन्दीगृह में स्थानान्तरित कर दिया गया।

दिनांक 15 मार्च को अय्यर सावरकर से भेंट करने गये, और इसके बाद कई बार और भी। रेजिनेल्ड वॉन का चुनाव भी अय्यर ने ही बहुत दौड़-धूप के बाद किया था। पर मुकदमों के लिए केवल दौड़-धूप ही काफी नहीं होती, इसके लिए चाहिए पैसा। अत: इसी दिन 15 मार्च को सावरकर से भेंट के तुरन्त बाद अय्यर ने कई अन्य सहयोगियों को पत्र लिखे। इनमें एक श्यामजी के नाम भी था जिसमें सावरकर की गिरफ्तारी के पूरे विवरण के अतिरिक्त कुछ आर्थिक सहायता का भी उल्लेख था। मुकदमे पर आने वाला कुल खर्चा लगभग 200 पौंड लिखा गया था। इन सहयोगियों व शुभेच्छकों की चिन्ता का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि 15 मार्च को सावरकर से भेंट के बाद जो पत्र श्यामजी को भेजा गया, उसका उत्तर और सहायता भी उसी दिन प्राप्त हो गए। श्यामजी द्वारा लिखित इस उत्तर में 15 मार्च ही अंकित है। पत्र के साथ 10 पौंड का चेक संलग्न था।

ब्रिक्स्टन बन्दीगृह : एक तीर्थ स्थल

जैब एवेन्यू पर स्थित ब्रिक्स्टन कारागृह अब मानो, विदेशों से आने वाले और लन्दन स्थित भारतीय क्रान्तिकारियों के लिए तीर्थस्थल बन चुका था। यद्यपि वहां आने वालों से तरह-तरह की पूछताछ की जाती, फिर भी सावरकर के दर्शनार्थियों का क्रम बना ही रहता। अय्यर तो लगभग नित्य प्रति ही आते। मज़े की बात यह कि वीरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय पेरिस में रहते हुए भी इन तीन, साढ़े तीन मास में लगभग 15 बार सावरकर से मिलने गये। सुना है, वह सावरकर से कम व जेल के अन्य अधिकारियों से अधिक मिलते थे। वह इन लोगों के लिए पेरिस से तरह-तरह की इत्र फुलेलें भी लाते। निश्चय ही इन भेंटों के पीछे उन्हें पटाकर सावरकर को छुड़ाने की योजना रही होगी। सावरकर ने इस जेल से साथियों एवं परिवार के लोगों को कई पत्र लिखे—पर काव्य रूप में एक पत्र जो उन्होंने यसुवहिनी को लिखा, उद्धृत करने योग्य है। 'मृत्यु-पत्र' के शीर्षक से लिखे, इस पत्र को अमर-पत्र कहना भी उतना ही सार्थक होगा। प्रस्तुत है इसका गद्यानुवाद—

"आकाश पर वैशाख मास का चन्द्रमा हास्य कर रहा था। उसकी चांदनी चहुं ओर छिटकी हुई थी। जिस मां की लता को बाल ने जलसिंचन किया था वह अपने छोटे फूलों की महक से फूल रही थी। गोकुल की तरह घर में आनन्द-मंगल हो रहा था क्योंकि सभी आदरणीय सम्बन्धी आए हुए थे। उन नवयुवकों की आदर्श दीप्ति, तेज और धैर्य देखकर स्वयं कीर्ति भी नाचती थी। नवयौवना के प्रेम से हम लोगों के हृदय-पुष्प खिल रहे थे और सच्चरित्रता की सुगन्ध में सुगंधित

हो रहे थे। दिव्य लता और वृक्षों से हमारा घर उद्यान की तरह शोभा पाता था। ऐसे समय प्रिय भाभी ! तुम्हारी कुशलता के कारण भोजन और भी स्वादिष्ट बनता था। हम लोग वार्तालाप करते हुए चांदनी में भोजन करने बैठते थे। उस समय कभी-कभी श्री रामचन्द्र के बनवास की कथा, इटली देश के स्वतन्त्र होने का इतिहास कोई कहने लगता, नारवर तानाजी के वीरगीत हम लोग गाने लगते। कभी-कभी चित्तौड़गढ़ और पूने के शनिवार-वाड़े का वार्तालाप होने लगता। ऐसे समय जब अनाथ माता का स्मरण आता तो शत्रुओं को छिन्न-भिन्न करने हेतु अत्यन्त द्रवित होकर मैं रोमांचित हो उठता। प्यारी भौजी ! वह रमणीक अवसर, वह प्रियजनों का मधुर सहवास, वह चन्द्रप्रकाश, वे नवकथाएं, वे रमणीय रातें, राष्ट्र को बन्धनमुक्त करने का वह दिव्य लक्ष्य, उसकी पूर्ति के लिए किए गए वह संकल्प और वह व्रत, तुम्हें याद हैं न। यह भी याद होगा, देवि वहिनी ! उस समय जब युवक संघ ने कहा था—'हम बाजी प्रभु बनेंगे' तो युवतियां भी उसी गर्व से कह उठी थीं—'हम भी चित्तौड़ की वीरांगनाएं बनेंगी।' वहिनी ! हमने यह व्रत किसी अन्धे उन्माद में नहीं लिया। आज तक का इतिहास, जिसे प्रकट रूप से दिव्य दाहक कहता है, उसी सत्यव्रत को प्यारी भौजी, हमने खूब सोच समझकर ही धारण किया है।

"देवि वहिनी ! स्मरण करो, उस समय प्रियजनों के साथ की हुई प्रतिज्ञाएं, और फिर आज की अवस्था देखो। तुम पाओगी कि अभी पूरे आठ वर्ष भी नहीं होने पाए कि हमारा उद्देश्य इतना अधिक सफल हो गया है। भला, यह सब देखकर मन में उल्लास क्यों न हो ! देखो न, कन्याकुमारी से लेकर हिमालय तक देश में हलचल-सी मच गई है और यह राष्ट्र दीनता को त्याग, वीरता का वरण कर रहा है। रघुवीर के चरणों में भक्तों की अपार भीड़ लगी है। उधर यज्ञकुण्ड में बलिदान की सामग्री भी प्रज्वलित हो उठी है। इस यज्ञ में आहुति हेतु जो लोग दीक्षा ले चुके हैं उनसे पूछा जा रहा है—'समग्र विश्व की मंगलकामना हेतु, आहुति देने के लिए कौन-कौन तैयार हैं ?'

"साध्वी भाभी ! इस दिव्यार्थ निमन्त्रण को पाकर हमने गर्जना की थी—'लो हमारा सम्पूर्ण कुल प्रस्तुत है'। यह कहकर हमने ईश्वरीय सम्मान प्राप्त किया है, हमारा जीवन धर्म पर न्यौछावर होने के लिए ही है, भाभी ! यह कहना अर्थ-हीन नहीं था। अनन्त यातनाओं को सहकर भी हमारा धैर्य नहीं टूटा और न ही खंडित हो पाया है हमारा निष्काम कर्मयोग। उस समय प्रियजनों के साथ की गई प्रतिज्ञाएं आज सत्य हो रही हैं। अपनी मां को बन्धनमुक्त करने हेतु इस प्रज्ज-वलित यज्ञकुण्ड में अपना सर्वस्व न्यौछावर कर हम आज कृतार्थ हो गए हैं।

"मातृभूमि ! मैं पहले ही तेरे चरणों पर अपना मन अर्पित कर चुका हूं, अब मेरा वक्तृत्व, वाग्वैभव, मेरी नई कविता सभी कुछ तेरे चरणों में समर्पित है।

मेरे लेखों में कोई अन्य विषय नहीं। अपना तन, मन, धन, यौवन सभी तुझ पर वार चुका हूं। यह मानकर कि देशसेवा ही ईशसेवा है, मैंने तेरी सेवा में, भगवान् की सेवा की है। इसी पवित्र अग्नि में मैं अपनी भाभी, पुत्र, पत्नी और बड़े भाई को भी भेंट कर चुका हूं, और अब स्वयं समर्पण के लिए प्रस्तुत हूं। पर यह तो कुछ भी नहीं। यदि हम सात भाई भी होते तो उन सबका बलिदान तेरे चरणों में ही होता। मगर, इससे क्या, इस भारतभूमि की तीस करोड़ सन्तान हैं। इनमें से जो मातृभूमि में रत हैं, वही धन्य हैं। हमारा कुल भी उनमें ईश्वरीय अंश के समान है। इसीलिए निर्वंश होकर भी हमारा वंश अखंड हो गया है।

"वंश चाहे अखंड हो अथवा न हो, पर हे मातृभूमि ! हमारे उद्देश्य पूरित हों। तुझे बन्धनमुक्त करने हेतु इस पावन अग्नि में अपना सर्वस्व होम कर हम धन्य हो गए हैं। प्यारी भौजी, यही सोचकर अपने कुल को सफल मानिए। श्री पार्वतीजी ने हिमगिरि की चोटियों पर तप किया है और कई राजपूतानियां भी हंसते-हंसते प्राणों की आहुति दे चुकी हैं, भारतीय ललनाओं का वह तेज, तप और बल आज भी नष्ट नहीं हुआ—इस बात को प्रमाणित करने के लिए, प्रिय भाभी, तुम्हारा समस्त व्यवहार भी वीरांगना की तरह होना चाहिए।

"देवि, यहां से मेरा, तुम्हारे लिए यही सन्देश है। तुम्हारे वत्सल चरणों में मेरा प्रेमपूर्वक प्रणाम। मेरी प्रिय पत्नी को आलिंगन कहना। आज तक का इतिहास जिसे प्रकट रूप से दिव्य दाहक कहता है, उसी सती व्रत को प्रिय भाभी, हमने सोच-समझकर वरण किया है।"

ब्रिक्स्टन जेल में सावरकर को जो विविध प्रकार के अनुभव हुए उनमें से एक सुखद आश्चर्य यह भी था कि उनका अंग्रेज़ मित्र गॉय अल्ड्रेड भी उन दिनों उसी कारागार में बन्दी था। यद्यपि यह पूरी कोशिश की गयी कि दोनों आपस में न मिल पाएं, पर अल्ड्रेड द्वारा लिखे गए मार्मिक संस्मरणों के अनुसार—"हम दोनों कल्पनाओं, अनुभूतियों व स्वप्नों में रोज़ ही मिलते थे।"[1]

23 अप्रैल को जब श्री बॉडकिन ने मुकदमे की कार्यवाही शुरू की तो श्री वॉन ने भरसक प्रयास किया कि सावरकर का मुकदमा इंग्लैंड में ही चलाया जाय। पर बो स्ट्रीट के न्यायाधीश ने 12 मई को यह निर्णय दिया कि सावरकर को भारत भेजकर वहीं उन पर मुकदमा चलाया जाय। इस निर्णय के विरोध में वॉन महोदय ने फिर अपील की। पर मुख्य न्यायाधीश ने (जिनका अपना नाम भी वॉन विलियम्स था) पहले वाले निर्णय को ही बनाए रखा। इसके बाद एक अन्तिम अपील 'अपीलों के विशेष न्यायालय' में भी की गई। यहां चार न्यायाधीशों में से कोलरिज नामक एक न्यायाधीश को छोड़कर शेष तीन ने फिर उसी पूर्व निर्णय

1. 'नो ट्रेटर्स गेट' : पृ० 110.

का अनुमोदन किया। इसका अर्थ यह था कि अब सावरकर का भारत जाना और वहां झूठे-सच्चे आरोपों पर आधारित अभियोगों की चक्की में पिसकर खत्म हो जाना, अन्तिम व अपरिहार्य रूप से निश्चित हो चुका था।

जेल से छुड़ाने की युक्तियां व योजनाएं

उधर एक ओर जब इस बात को लेकर अपील-पर-अपील की जा रही थी कि सावरकर का मुकदमा इंग्लैंड में चले अथवा भारत में, वहीं दूसरी ओर सावरकर के साथी केवल इसी निर्णय के भरोसे हाथ पर हाथ धरे खाली नहीं बैठे थे। वह दिन-रात इसी उधेड़बुन में रहते कि सावरकर को बन्दीगृह से कैसे छुड़ाया जाय। तरह-तरह के प्रस्ताव रखे जाते। कई प्रकार की युक्तियां व योजनाएं बनतीं। इनमें से दो योजनाएं बनीं भी पर दोनों ही विफल रहीं।

पहली यह थी कि सावरकर की शक्ल-सूरत का कोई व्यक्ति अपनी विशेष पारम्परिक पोशाक में उनसे मिलने जाय, वहां से सावरकर उसकी वेश-भूषा पहन कर बाहर आ जायं और वह स्वयं अन्दर रहकर दण्ड भोगे। यह युक्ति निश्चय ही चार्ल्स डिकन्स के प्रसिद्ध उपन्यास 'टेल ऑफ टू सिटीज़' से प्रेरित रही होगी। वैसे भी चार्ल्स डिकन्स सावरकर के प्रिय लेखक थे। यह बात और कि उनकी पुस्तकें पढ़कर, सावरकर उनकी खाली जिल्दों में पिस्तौलें रखकर भारत भेज दिया करते थे। यह योजना सम्भवतः किसी उपयुक्त पात्र के अभाव में नहीं चल पाई।

दूसरी योजना इससे भी अधिक रोचक थी। यह सावरकर के अंग्रेज़ मित्र डेविड गार्नेट के मस्तिष्क की उपज थी। इसका विस्तृत उल्लेख उन्होंने अपनी आत्मकथा में भी किया है। इसके अनुसार सावरकर को बन्दीगृह से न्यायालय ले जाते समय, पुलिस से बलपूर्वक छुड़ाना और एक अंग्रेज़ मेम के वेश में छुपाकर ले जाना। डेविड के अनुसार एक बार वेश बदलने के बाद सावरकर को कोई भी नहीं पहचान सकता था। इसके लिए डेविड अपनी मां के कपड़े, हैट, स्कर्ट व छतरी आदि और कुछ साहसी साथी लेकर जेल द्वार पर पहुंचे भी थे पर शायद ब्रिटिश गुप्तचरों को इस योजना की भनक पड़ गई। उन्होंने ठीक उसी समय सावरकर को दूसरी गाड़ी में भेज दिया। परिणामस्वरूप जब डेविड के साथियों ने पुलिस की गाड़ी को रोका तो वह खाली निकली।

हर अपील, प्रयास और हर युक्ति विफल होते देख उनके सहयोगी इस बात से लगभग हताश हो गए थे कि सावरकर को भारत भेजे जाने से रोका जा सकता है। पर स्वयं सावरकर अब भी उतने ही धीर, आश्वस्त एवं हंसमुख बने रहे। 21 जून को ब्रिक्स्टन बन्दीगृह से 'ऋषि' को लिखे पत्र में (सावरकर की गिरफ्तारी के बाद से ही अय्यर ने अपनी दाढ़ी बढ़ानी शुरू कर दी थी, जिसे देख सावरकर

उन्हें 'ऋषि' कहने लगे थे) उन्होंने अपने उत्तम स्वास्थ्य व बन्दीगृह में बढ़े हुए दो पौंड भार को लेकर लिखा था—"यह बढ़ा हुआ भार स्वयं मेरे शरीर का है, तुम्हारी बढ़ाई हुई दाढ़ी का नहीं।"

इस जून के अन्त तक सावरकर को लन्दन में पूरे चार वर्ष हो चुके थे। एक बात जो उनके सम्पूर्ण अन्तस् को निरन्तर सालती रहती थी वह यह कि मातृभूमि को स्वतंत्र कराने का उद्देश्य लेकर विदेशों में आया यह सेनानी आज स्वयं, अपने ही देश में बन्दी होकर लौटेगा; तो भारत मां और अपने साथियों को क्या मुंह दिखाएगा। यही बोझिल प्रश्न उनकी आत्मा को कचोटते रहते। इस उद्विग्न मन:स्थिति का विवेचन उन काव्य छन्दों में मिलता है जो उन्होंने 'विदाई' नामक शीर्षक से अपने भारतीय व पेरिस स्थित क्रान्तिकारियों के नाम लिखे।

"जिस प्रकार एक भारतीय नाटक के सभी पात्र—मृत अथवा जीवित—अन्तिम अंक व दृश्य में मिल जाते हैं, उसी प्रकार इस स्वाधीनता संघर्ष नाटक के हम सभी असंख्य पात्र भी कभी इतिहास के रंगमंच पर अवश्य मिलेंगे व तब मानवता रूपी दर्शक हमारा हर्ष से जयजयकार करेंगे। तब तक के लिए, मित्रों ! विदा—विदा !

''मेरी लाश कहीं भी गिरे—चाहे अंडमान की अंधेरी कालकोठरी में, अथवा गंगा की परम-पवित्र धारा में, वह हमारे संघर्ष को निरन्तर आगे ही बढ़ाएगी। युद्ध में लड़ना और लड़ते-लड़ते मर जाना, यह भी एक विजय ही तो है, अत: प्रिय मित्रो विदा—अलविदा !"

अन्तत: जून 29 को तत्कालीन गृह विभाग के राज्य-सचिव विंस्टन चर्चिल ने सावरकर को ब्रिटिश-भारत भेजने का आदेश जारी किया। पहली जुलाई को जानेवाले इस जहाज की पूर्व सूचना तार द्वारा फ्रांस के गुप्तचर विभाग को दे दी गई थी। उन्हें हर तरह से सतर्क रहने को भी कहा गया था, क्योंकि एक 'बहुत महत्वपूर्ण बन्दी' भारत भेजा जा रहा था जिसे छुड़ाने के लिए किसी भी प्रकार का प्रयास किया जा सकता था। चर्चिल की यह आशंका, सर्वथा निराधार नहीं थी। अय्यर व लन्दन के कुछ अन्य क्रान्तिकारी छुपते-छुपाते पेरिस पहुंच कर 'कुछ' करने की योजना बनाने लगे।

शुक्रवार, 1 जुलाई (अर्थात् धींगरावायली कांड के ठीक एक वर्ष बाद) पी० ओ० एस० एस० मोरिया नामक जलपोत सावरकर को लेकर लन्दन बन्दरगाह से रवाना हुआ। जहाज़ में सरकारी डाक के अतिरिक्त सावरकर को विक्टोरिया स्टेशन पर पकड़ने वाले श्री ई० जॉन पारकर, बम्बई के श्री पावर व दस अन्य सुरक्षा अधिकारी थे। एक खम्भे से बंधा हुआ यह वीर सपूत रास्ते भर सहयोगियों को भांति-भांति के संस्मरण सुनाकर उनका मनोरंजन करता रहा। इनमें से अधिकतर वृत्तान्त विश्व में हुए स्वतंत्रता संग्रामों एवं राजनैतिक

आन्दोलनों के थे। ऊपर निःस्सीम आकाश और नीचे अथाह सागर के बीच भला यह स्वतंत्रता सेनानी और किस विषय पर बात कर सकता था। यह बात उनके पल्ले भी नहीं पड़ रही थी कि ऐसे रोमांचक एवं प्रेरक प्रसंग सुनाकर वह केवल उनका दिल नहीं बहला रहे थे वरन उनके मन-मस्तिष्क पर ऐसा मनोवैज्ञानिक प्रभाव डाल रहे थे कि यदि स्वतंत्रता के नाम पर वह कोई कारनामा कर बैठें तो वे सभी उनको दण्ड देने की बजाय उनकी सहायता करें।

लगभग एक सप्ताह तक यही क्रम चलता रहा। पर 6 जुलाई को जहाज़ के इंजन में खराबी आ जाने से विवश होकर जहाज़ को मार्सेल्स की ओर मुड़ना पड़ा। पाठकों को याद होगा कि यह वही स्थान है जिसके नाम पर रचित गीत से क्रान्ति हुई थी। यह आज भी वहां का राष्ट्र गीत है, जिसे सुनकर धमनियों के रक्त प्रवाह में उबाल आ जाता है और जिस गीत को कई भाषाओं में रूपान्तरित करके श्याम जी ने लन्दन से पेरिस जाने से पूर्व, अपने पत्र के मुखपृष्ठ पर छापा था। स्वतंत्रता और क्रान्ति से सम्वद्ध ऐसे स्थान पर आज़ादी के इस दीवाने का जहाज़ लगना—कहीं यह दैवयोग तो नहीं है ? कहीं प्रकृति, विशेषकर सागर, जो सदा ही सावरकर का इष्ट रहा था, सावरकर की सहायता के लिए कोई नई युक्ति तो नहीं खोज रहा था—ऐसे कितने ही प्रश्न सावरकर के मन में उठने लगे। जब ऐसी मनःस्थिति हो तो भला नींद और चैन कहां। लंगर से लगे जहाज़ में लेटे सावरकर सारी रात फटी आंखों से खुले आकाश व उन्मुक्त सागर को देखते रहे। बार-बार यही सोचते कि इन दोनों के बीच भला मैं बन्दी क्यों ? मैं ऐसा क्या करूं कि यह रात मेरी परतन्त्रता की अन्तिम रात हो और कल की भोर, भारत मां की स्वतंत्रता की भोर की पहली किरण। सागर तट पर आ-आकर जितनी लहरें टकरातीं, उतने ही विचार सावरकर के मन रूपी सागर में भी उड़ते। कृष्ण से शिवाजी तक कारागार से मुक्ति की कितनी ही कहानियां, उनके मानस पट पर छाने लगीं।

8 जुलाई की भोर, बस पौ फटने को थी। पूर्व की खिड़की पर लाली छा रही थी। सावरकर के लिए बस यही एक क्षण था—एक सख्त घड़ी—कुछ करने या मरने की। 'जो होना है वह अभी हो सकता है या फिर कभी नहीं सावरकर ने सोचा। उन्होंने शौचादि से निवृत्त होने के लिए आज्ञा मांगी। शौचालय में जाते ही उन्होंने अन्दर से कुंडी लगाकर अपना गाउन उतारा और बाहर से झांककर भीतर देखने वाले छेद को बन्द कर दिया। इसके बाद शौच की मुद्रा में बठकर अपना जनेऊ उतारकर अपने शरीर को नापा जिसका अर्थ यह था कि क्या यह शरीर समेट-सिकोड़ कर पोर्ट-होल के आकार तक लाया जा सकता है जिसे उन्होंने पहले भी कई बार अपनी नज़रों से नाप लिया था। फिर शरीर पर साबुन मलकर बिजली की भांति ऊपर छलांग लगाई और पलक झपकते ही पोर्ट होल से

निकलकर छपाक् से समुद्र की गोद में जा गिरे।

एक अधिकारी ने उन्हें कूदते हुए देख लिया। बस, फिर क्या था ! चारों ओर भागो, दौड़ो, पकड़ो का शोर उठ खड़ा हुआ। अंग्रेज़ अफसरों को गश आने लगा। घबराए बौखलाए वे इधर-उधर भागे और ऊपर से ही लहरों को चीरते हुए सावरकर पर दनादन गोलियों की बौछार शुरू कर दी। कुछ अधिकारी कूद कर पैदल भी भागे। इस समय तक सावरकर तैरकर सागर तट पर पहुंच चुके थे। यहां किनारे पर पहुंच कर वह फ्रांस की सीमा में भागे और सामने खड़े सिपाही से टूटी-फूटी फ्रांसीसी भाषा में प्रार्थना की कि वह उन्हें किसी न्यायाधीश के पास ले चले। इस बीच गोरे सिपाही, मोटर-नावों में पीछा करते और 'चोर-चोर पकड़ो-पकड़ो' चिल्लाते हुए वहां आ पहुंचे। उन्होंने उस फ्रांसीसी सिपाही के हाथ में कुछ पैसे रखे और खींचकर सावरकर को वापस ले गए। उस छोटी-सी खिड़की से भागने की कोशिश में खरोचों व खून से सने, तैरते-तैरते थककर चूर होने पर भी इस दुबले-पतले सावरकर ने छूटने के लिए काफी हाथापाई की पर उन्हें दबोचकर वापस जहाज़ पर ले जाया गया और हथकड़ी-बेड़ी पहनाकर एक पिंजरे में डाल दिया गया। जहाज़ फिर चल पड़ा।

अब हम इस जहाज़ को छोड़कर पहले पेरिस की ओर लौटते हैं।

विश्व के इतिहास में यह एक अनोखी घटना थी जब स्वदेश की स्वतंत्रता के नाम पर इतना बड़ा जोखिम उठाकर किसी व्यक्ति ने विदेश के धरातल पर पहुंच कर वहां शरण मांगी हो मगर वहां के अधिकारी ने ऐसे कार्य में सहायता करने की बजाय, उलटे उसे ही पकड़कर उसके शत्रुओं को सौंप दिया हो। यह सब हुआ उस देश में जहां का प्रसिद्ध दार्शनिक रूसो, सारे जीवन मानव की स्वतंभ्रता के ही गीत गाता रहा; और उस स्थल पर जहां सामने ही स्थित नेपोलियन का किला बार-बार यह चेतावनी देता है कि उनके आदर्श नेपोलियन को सर्वाधिक यातनाएं देनेवाले भी यह ललमुंहे अंग्रेज़ ही थे। स्वतंत्रता के नाम पर किसी एक व्यक्ति द्वारा किया गया संसार का शायद यह सबसे साहसिक एवं सराहनीय प्रयास था। पर यह भी उतना ही सच है कि इसी स्वतंत्रता के दो सबसे बड़े हिमायती राष्ट्र, फ्रांस व इंग्लैंड द्वारा किसी एक व्यक्ति को उसकी मूल स्वतंत्रता से वंचित करने का यह सबसे घिनौना व निन्दनीय दृष्टान्त भी था।

कहां इधर प्रकृति का सुयोग व सहयोग, और कहां उधर भाग्य की वक्र दृष्टि कि जब सावरकर को पकड़कर वापस लाया जा रहा था तभी उधर बन्दरगाह के तट पर मदाम कामा, अय्यर, सरदारसिंह राणा व अन्य कितने ही साथी उन्हें छुड़ाने के लिए हर तरह से लैस होकर पहुंच चुके थे। पर रास्ते में रेल का फाटक बन्द होने के कारण उन्हें पहुंचने में लगभग आधा घंटे की देर हो गई। क्या यह कहना गलत होगा कि यही आधे घंटे का विलम्ब, सावरकर को आधी शताब्दी

(50 वर्ष) के कठोर कारावास का दण्ड दिलाने का एक कारण बन गया ?

विश्व समाचार जगत स्तब्ध

सावरकर के अदम्य साहस की यह रोमांचकारी घटना और फ्रांस की राज्य सीमा में प्रवेश के बाद भी उन्हें पकड़कर वापस लौटा देने का समाचार समस्त विश्व में जंगली आग की तरह फैल गया। केवल इंग्लैंड के ही नहीं वरन फ्रांस, जर्मनी, रूस व अमरीका के सभी प्रमुख समाचार पत्रों ने मुखपृष्ठों व अग्रलेखों में इस घटना की विस्तार से चर्चा की। पेरिस से प्रकाशित—'ल ह्यूमनाइट' ने, जिसके सम्पादक कार्ल मार्क्स के पौत्र ज्यां लौंगे थे, 12 जुलाई के अंक में सावरकर की गिरफ्तारी के विरुद्ध आक्रोशपूर्ण अग्रलेख लिखा। अगले ही दिन पेरिस के चार अन्य पत्रों—'लॅ मान्द', 'लॅ तैम्प्स', 'लॅ मैतीन' व 'लँ एक्लेअर', ने भी आक्रोश प्रकट किया।

फ्रांस की भूमि पर पदार्पण करने के बाद सावरकर का वापस अंग्रेजों को लौटाया जाना कहां तक न्यायसंगत था, इस विवाद ने विश्व के सभी न्यायप्रेमियों को जागरूक कर दिया। मदाम कामा, अय्यर व श्यामजी फ्रांस के प्रख्यात समाजवादी नेता तथा मार्सेल्स के महापौर ('मेयर' के लिए यह हिन्दी पर्याय भी सावरकर की ही देन है) एम० जोरेस से मिले और ब्रिटिश सरकार से सावरकर को वापस लेने की ज़ोरदार मांग की। आखिर 19 जुलाई को फ्रांसीसी सरकार ने समाचार-पत्रों द्वारा यह स्पष्टीकरण दिया—

"यह देखते हुए कि सावरकर को फ्रांस की राज्य सीमा में पकड़ा गया है, फ्रांसीसी सरकार ने ब्रिटिश सरकार से आग्रह किया है कि जब तक इस सम्बन्ध में पूरी जानकारी प्राप्त न कर ली जाए, सावरकर के मुकदमे को स्थगित रखा जाय।"

सबसे दिलचस्प बात यह कि सावरकर को लौटाने की मांग का सबसे ज़ोरदार आह्वान स्वयं इंग्लैंड में ही हो रहा था। इसमें वहां की बड़ी-बड़ी संस्थाएं, समाचार-पत्र व विधि विशेषज्ञ भी सम्मिलित थे।

ब्रिटिश सांसद श्री हार्डी ने 10 सितम्बर को कोपेनहेगन में हुए अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी सम्मेलन में (3 वर्ष पूर्व स्टटगार्ट में हुए इसी सम्मेलन में मदाम कामा ने भारत का ध्वज लहरा कर सारे विश्व का ध्यान भारत के स्वाधीनता-संग्राम की ओर आकर्षित किया था) सावरकर को फ्रांस के हवाले करने की ज़ोरदार मांग की। 'डेली मेल', 'लंदन टाइम्स' तथा 'मार्निंग पोस्ट' जैसे महत्वपूर्ण पत्रों ने भी इस मांग का समर्थन किया। उधर गॉय अल्ड्रेड ने भी 'सावरकर मुक्ति आन्दोलन समिति' का गठन किया। वह अपने साथियों को लेकर बड़ी-बड़ी तख्तियां, पट्टियां उठाये नगर की सड़कों पर निकलता व सावरकर की रिहाई की

मांग करता। समिति के सदस्य घर-घर जाकर 'सावरकर सहायता कोष' के लिए दान का अनुरोध करते। यह इसी अनुरोध का परिणाम था कि लन्दन स्थित कई विदेशी दूतावासों ने भी, जिसमें स्पेन, पैरागुआ व पुर्तगाल भी थे, खुलकर आर्थिक सहायता दी।

मांग की गूंज बढ़ते-बढ़ते लन्दन के हाउस ऑफ कामन्स से जा टकराई[1]। 29 जुलाई, 1910 को ब्रिटिश प्रधानमंत्री श्री एस० क्वीथ ने सदन में बताया कि फ्रांस सरकार ने सावरकर को वापस लेने का आग्रह पत्र भेजा है। हर ओर से निरन्तर बढ़ती हुई इस मांग व दबाव को देखकर ब्रिटिश सरकार को विवश होकर यह बात माननी पड़ी। 25 अक्तूबर को लन्दन में ब्रिटेन के विदेश सचिव सर एडवर्ड व लन्दन में फ्रांस के राजदूत एम० पॉल केमबों के बीच छह सूत्री संधि हुई जिसके अन्तर्गत यह तय हुआ कि हेग के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में एक पंच-परिषद द्वारा यह निर्णय प्राप्त किया जाय कि अन्तर्राष्ट्रीय शरण नियम के अनुसार ब्रिटेन, सावरकर को, फ्रांस सरकार को लौटा दे अथवा नहीं। इस अंतर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरण के अध्यक्ष थे बेल्जियम के भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्री बर्नर्ट। अन्य चार सदस्य थे नार्वे के भूतपूर्व मन्त्री एम० ग्राहम, हालैंड के जान्कियर लोमन, इंग्लैंड के अर्ल ऑफ डिज़र्ट तथा फ्रांस के एम० लुई० रेनाल्ड।

कदाचित्, विश्व के किसी मुकदमे में इतने बड़े-बड़े विधि दिग्गजों और न्याय-शास्त्रियों ने एक साथ मिलकर, एक व्यक्ति के एक कार्य पर इतना विचार-विमर्श नहीं किया होगा। हेग के इस अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में चर्चित होने वाले प्रथम भारतीय का श्रेय भी सावरकर को ही जाता है। पांच फुट सवा दो इंच की ऊंचाई व एक सौ पन्द्रह पौंड वजन के दुबले-पतले इस 26वर्षीय तरुण ने कुछ समय के लिए समूचे संसार के समाचार जगत को हिलाकर रख दिया था।

पर अफसोस! कि जिस मुकदमे की ओर विश्व के बड़े-बड़े विधिप्रेमियों की आंखें लगी थीं व जिसमें स्वतन्त्रता व समानता जैसे मूल मानवीय प्रश्नों पर विचार होना था—मात्र नाटक, नहीं, केवल नौटंकी बन कर रह गया। मुकदमे

---

1. अभी 25 मई, 1984 को लन्दन से लिखे श्री मुकुन्द सोनापाटकी के एक पत्र से ज्ञात हुआ है कि इस 28 मई को लन्दन के हाउस ऑफ कामन्स में सावरकर की स्मृति में एक छोटा-सा समारोह होना निश्चित हुआ है। सावरकर शताब्दी समारोह निमित्त इस समिति में चार ब्रिटिश सांसद भी हैं। पत्र पढ़कर सोचता हूं, कैसी विचित्र स्थिति है कि जिस देश के विरुद्ध सावरकर लड़े वहां की संसद में उन्हें मान दिया जा रहा है, पर जिस देश के लिए लड़े वहां के संसद-भवन में उनकी शताब्दी के नाम पर एक शब्द भी नहीं कहा गया!

की सुनवाई 1911 की 14 फरवरी को शुरू हुई और यद्यपि सूत्र छ: के अनुसार इसके लिए एक माह की अवधि निश्चित हुई थी पर एक ही थैली के सभी चट्टे-बट्टों ने मिलकर इसे केवल आठ ही दिनों में खेंच कर रख दिया। फिर, बिना एक दिन भी विचार किए (क्योंकि सब कुछ पूर्व-निर्धारित ही था) नवें दिन अर्थात् 24 फरवरी को निर्णय दे दिया गया।

निर्णय में सारी घटना को तोड़-मरोड़कर दिखाने के बाद केवल यह बात मानी गई कि —"यद्यपि सावरकर को पकड़ने में थोड़ी-सी अनियमितता बरती गई तथापि उन्हें फ्रांस को सौंपने की कोई आवश्यकता नहीं।"

इस सर्वोच्च न्यायालय के निम्नतम निर्णय पर समस्त संसार ने भर्त्सना व थू-थू की ! इंग्लैंड के 'डेली न्यूज' ने इस निर्णय को 'प्रहसन' की संज्ञा दी। 'मार्निग पोस्ट' ने इसे 'पूर्व नियोजित प्रपंच' कहा। सबसे कड़कता हुआ लेख प्रकाशित हुआ 25 फरवरी के जर्मन पत्र 'बर्लिन पोस्ट' में, जिसमें न केवल निर्णय वरन न्यायालय की भी धज्जियां उड़ाकर रख दी गई थीं। इस अग्रलेख का एक अंश इस प्रकार है —

"हमें हेग न्यायालय से उचित न्याय की कभी भी अपेक्षा नहीं रही। अब इस निर्णय से इस बात की और भी पुष्टि हो गई। सावरकर के मुकदमे के फैसले में न्यायाधीशों ने जिस जल्दबाजी, फूहड़पन और मूर्खता का प्रदर्शन किया है, वह लज्जाजनक तो है ही, अन्तर्राष्ट्रीय शरण नियम का सरासर अपमान भी है।"

लगभग यही प्रतिक्रियाऐं रहीं बेल्जियम के 'लोसाइती नूवेल' और स्विटज़रलैंड के 'दं वान्दरर' की। कुल मिलाकर विदेशों के अधिकांश पत्रों ने इस निर्णय की घोर निन्दा की। हां, हमारे देश में, अंग्रेजों के चमचों के अखबार 'टाइम्स ऑफ इंडिया' ने इस निर्णय की सराहना इन शब्दों में की—

"अच्छा हुआ, एक बदमाश को अपनी करनी का दण्ड मिला।"

पत्रों की इस तीव्र प्रतिक्रिया का तत्काल प्रभाव पड़ा फ्रांस के प्रधानमंत्री एम. ब्रायन पर। उनके ढुलमुल रवैये और ब्रिटेन तुष्टीकरण की नीति को लेकर उनकी इतनी अधिक आलोचना हुई कि निर्णय के तीन दिन बाद शुरू होने वाली 'चैम्बर ऑफ डिप्यूटीज' की बैठक से पूर्व ही उन्होंने अपना त्याग पत्र दे दिया। मात्र एक व्यक्ति के कारण, जो उस देश का भी नहीं था, एक राज्य की प्रमुखतम कुर्सी के लड़खड़ाकर गिर जाने का कदाचित् विश्व इतिहास में यह अनोखा उदाहरण था।

उधर, दूसरी ओर भारत में 'नाटक सावरकर' के लिए जो रंगमंच तैयार हो रहा था, उस पर जो दृश्य व घटनाएं घटित हुईं, उसके समक्ष हेग न्यायालय का स्वांग भी फीका पड़ने लगा। मार्सेल्स से अदन के पोर्ट तक आते-आते सावरकर को तरह-तरह की यातनाएं दी गईं, पर वज्र के समान कठोर यह मृत्युंजय वीर

तनिक भी विचलित नहीं हुआ। मौत की कगार पर खड़े होकर शत्रु व मृत्यु को एक साथ चुनौती देता हुआ उन्होंने एक ऐसा गीत लिखा, जिसमें, गीता में कृष्ण के 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि···' वाले श्लोक का तेज है।

"अनादि मी अनन्त मी, अवध्य मी भला," इस पंक्ति से आरम्भ हुए इस मराठी गीत का हिन्दी अनुवाद सौ० कुसुम तांबे ने इस प्रकार किया है।—

अनादि मैं, अनंत मैं, अवध्य मैं, महान,
मार सके कौन मुझे शत्रु शक्तिवान ?
धर्म धारणार्थ अट्टहास कर लड़ा ।।
मृत्यु के समक्ष मैं डटा रहा खड़ा।
खड्ग से मरा न मैं न अग्नि से जला।
भीरु मृत्यु छोड़ युद्ध भागता चला।
शत्रु भी बड़ा विचित्र मूर्ख है महा।
मृत्युदंड से मुझे अरे डरा रहा।

हिंस्र-सिंह-पिंजर में देख फेंक कर।
सिंह दास बन जाय पांव चाटकर।
अग्निकुंड में प्रदीप्त डाल दे मुझे।
अग्नि शीत सुप्रभावली बना मुझे।

हो कराल क्रूर सैन्य राह छेंकते।
अस्त्र-शस्त्र तोप बाण आग फेंकते।
झेलकर उन्हें अजेय मैं पचा गया।
कालकूट मैं त्रिनेत्र सा रिचा गया।

अदन से एक अन्य जलयान 'एस. एस. षष्टी' सावरकर को लेकर 22 जुलाई को बम्बई पहुंचा। यहां, भारी सुरक्षा व पूरी सतर्कता से एक विशेष गाड़ी द्वारा उन्हें पहले नासिक और फिर यरवदा बन्दीगृह में ले जाया गया। यहीं 13 सितम्बर को जोसेफ बैप्टिस्टा नामक एक विख्यात अधिवक्ता ने सावरकर से भेंट की। अपने आपको उनके बचाव का वकील बताते हुए उन्होंने यह भी कहा, कि इसके लिए उन्हें मदाम कामा का एक विशेष पत्र मिला है जिसमें उनकी फीस और लन्दन में सावरकर के वकील श्री वॉन द्वारा तैयार किए गए सारे कागजात भी हैं।

सब कुछ 'विशेष'

सावरकर को लेकर हुई और हो रही हर बात 'विशेष' थी। विशेष जलयान,

विशेष सुरक्षा दल, विशेष गाड़ी, विशेष नियम, विशेष वारण्ट, विशेष न्यायाधीश व, अब उनके मुकदमे के लिए 'विशेष न्यायालय नियम' के अन्तर्गत, बम्बई में विशेष अदालत की स्थापना की गई।

न्यायाधीशों की त्रिमूर्ति में सर बेजिल स्कॉट, एन. जी. चन्द्रावरकर व जस्टिस हीटन थे। सरकारी वकीलों में बम्बई के एडवोकेट जरनल जारडीन, सेल्डन, वैलिकर और निकल्सन थे। इधर बचाव के वकील भी उसी टक्कर के थे। बैप्टिस्टा के अतिरिक्त श्री रांगनेकर, श्री चित्रे व गोविन्द राव गॉडगिल जैसे जाने-माने अधिवक्ताओं ने स्वयं आगे बढ़कर अपनी सेवाएं अर्पित कीं।

सावरकर पर एक साथ चलाए जाने वाले अभियोगों की संख्या भी 'विशेष' ही थी—एक या दो नहीं, वरन तीन। पहले मुकदमे में, जिसे 'नासिक केस' के नाम से जाना जाता है, पूरे 38 अभियुक्त थे; दूसरे में सावरकर व गोपालराव पाटणकर और तीसरे में केवल सावरकर। उन पर लगाए गए कुल मिलाकर 8 आरोपों में प्रमुख थे—सम्राट के विरुद्ध राजद्रोह का षड्यन्त्र व नासिक के जिलाधीश जैक्सन की हत्या के लिए प्रोत्साहन। मुकदमे के लिए सावरकर को यरवदा से बम्बई की डोगरी जेल में स्थानांतरित किया गया। डरा-धमकाकर और फुसलाकर सरकार ने जिन चार गवाहों को तोड़ लिया था—वह थे काशीनाथ अंकुशकर, दत्तात्रेय जोशी, व० र० कुलकर्णी और पाठकों का जाना-पहचाना इंडिया हाउस का रसोइया चतुर्भुज अमीन जिसके हाथ सावरकर ने 29 ब्राउनिंग पिस्तौलें भारत भेजी थीं।

15 सितम्बर को आरम्भ हुए इस तमाशाई मुकदमे की तैयारी भी विशेष रूप से की गई थी। न्यायालय में सावरकर को लाने के लिए विशेष सुरक्षा कदम, किसी भी स्थिति से निबटने के लिए विशेष पुलिस दस्ते और समाचार-पत्रों के लिए विशेष पत्रकार। न्यायालय में प्रवेश करते ही एक ओर से अपनी जय-जयकार का उद्घोष सुना। उधर देखा तो पहचानते देर न लगी कि इन व्यक्तियों में से एक उनका छोटा भाई बाल (नारायण) सावरकर था। कालान्तर में वह तरुण से पूर्ण युवक हो चुका था। न्यायाधीश ने उन्हें बैठने को कुर्सी दी तो सावरकर ने धन्यवाद सहित इन्कार करते हुए कहा—

"जब मेरे इतने सह अभियुक्त खड़े हों तो भला मैं कैसे बैठ सकता हूं।"

पहला दिन केवल सरकारी वकील द्वारा आरोप-पत्र पढ़ने में ही निकल गया। इसके दस दिन बाद 26 सितम्बर को जब कार्यवाही पुनः आरम्भ हुई तो जॉन बैप्टिस्टा ने तर्क किया कि जब तक सावरकर का हेग मुकदमा न पूरा हो जाय भारत में मुकदमे की कार्यवाही स्थगित रखी जाय। अदालत ने यह तर्क तत्काल अस्वीकार कर दिया। अगले दो दिन सरकारी वकीलों ने अपने गवाहों को पेश किया। श्री कैप्टिस्टा ने फिर सावरकर की अवैध गिरफ्तारी की बात उठाई पर

इसे भी नामंजूर कर दिया गया। स्वयं सावरकर ने भी अपने बचाव में कुछ कहने के बजाय अदालत की न्यायिक सामर्थ्य को चुनौती देते हुए कहा—

"मेरे ऊपर जो अभियोग लगाए गए हैं, उनके विषय में मैं कुछ नहीं कहना चाहता। मैंने लन्दन में चलाए गए मुकदमे में इसलिए भाग लिया, क्योंकि वहां के न्यायालय जनतांत्रिक पद्धति पर आधारित हैं, अतः उनसे न्याय की आशा की जा सकती है। इसके विपरीत भारत की अदालतों में 'जनतंत्र' व 'न्याय' नाम मात्र को भी नहीं हैं। ऐसी अविश्वनीय व निरर्थक अदालत के समक्ष किसी प्रकार का वक्तव्य देना या अपना पक्ष प्रस्तुत करना सर्वथा व्यर्थ है।"

लगभग दस सप्ताह (68 दिन) तक रेंग-रेंगकर खिसकते हुए इस नाटकीय मुकदमे के निर्णय की पूर्व संध्या (22 दिसम्बर) को सावरकर ने इसी कारागृह में जो मार्मिक कविता रची उसमें इस बात का स्पष्ट संकेत था कि उन्हें अदालती फैसले व अपनी नियति का पूर्णरूपेण पूर्वाभास हो चुका था। 'पहिला हप्ता' नाम की मराठी कविता का एक अंश इस प्रकार था।

'सारथी जिचा अभिमानी।
कृष्ण जी आणि राम सेनानी॥
अशि तीस कोटि तव सेना।
ती अह्मां विना थांबेना॥
परि करुनि दुष्ट-दलदलना।
रोंविलची स्वकरीं। स्वतंत्र्याचा हिमालयावरि झेंडा जरतारी॥
जननी॥

(जिस राष्ट्र के रथ के सारथी भगवान कृष्ण हों, जिस राष्ट्र के पास राम जैसा सेनानी हो और तीस कोटि सेना, उस राष्ट्र की प्रगति भला मेरे बिना क्या रुकेगी। वहां निश्चय ही रिपुओं का दमन करके हिमालय की चोटी पर स्वतंत्रता का ध्वज लहराया जाएगा।)

दिनांक 23 दिसम्बर को दिए गए निर्णय में अदालत ने सावरकर को ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह का षड्यंत्र व बम आदि शस्त्रास्त्र बनाने व प्रशिक्षण देने के आरोपों में भारतीय दण्ड संहिता की धारा 121अ के अन्तर्गत 'आजन्म कारावास व समस्त सम्पति की जब्ती' का दण्ड सुनाया। इस केस के 38 अभियुक्तों में से 3 को आरम्भ में ही छोड़ दिया गया था, आठ को मुकदमे के बाद निर्दोष पाया गया, अन्य 26 अभियुक्तों को 6 मास से 15 वर्षों तक की विभिन्न अवधियों का कारावास दिया गया। सावरकर व अन्य सभी अभियुक्तों ने 'वन्दे-मातरम्', 'भारत माता की जय,' 'स्वातंत्र्य-लक्ष्मी की जय' के उद्घोषों से इस निर्णय का स्वागत किया।

1911

एक जन्म : दो आजन्म कारावास

अभी पहले अभियोग के निर्णय को एक मास ही बीता था कि 23 जनवरी, 1911 को फिर उसी विशेष अदालत द्वारा दूसरे मुकदमे की सुनवाई शुरू हुई। इसमें उन पर मुख्य आरोप था जैक्सन की हत्या के लिए प्रोत्साहन। इसकी कार्यवाही केवल एक ही सप्ताह चली और 30 जनवरी 1911 को उसी विशेष अदालत ने, उसी विशेष अभियुक्त पर उसी पूर्ण निर्णय को ज्यों का त्यों दोहरा दिया। इसका अर्थ था कि एक ही व्यक्ति को, एक ही जीवन में, दो जन्मों का कठोर कारावास। निर्णय सुनने के लिए अदालत के बाहर हज़ारों व्यक्ति सांस रोके खड़े थे। इस अभूतपूर्व, अनसुने दण्ड को सुनकर कइयों पर वज्रपात-सा हुआ। पर सावरकर ने उसी धीर, गम्भीर मुद्रा में यह दण्ड सुना व अपने एक साथी से कहा —"मैं इस जघन्य दण्ड को भी केवल इसीलिए भुगतने को तैयार हूं, क्योंकि स्वातन्त्र्यलक्ष्मी की प्राप्ति के मार्ग में तप, त्याग व बलिदान अवश्यम्भावी[1] है।"

एक जीवन में दो जन्मों के कारावास पर व्यंग्य करते हुए उन्होंने कहा—"मैं, न्यायाधीश महोदय को कम से कम इस बात के लिए बधाई देता हूं कि उन्होंने एक जीवन में दो जीवनों के कारावास का दण्ड देकर हिन्दुओं के पुनर्जन्म के सिद्धांत को मान लिया है।"

इस निर्णय के बाद बैरिस्टर सावरकर ने अपना निजी वस्त्र उतार कर कैदियों वाले खुरदुरे वस्त्र धारण कर लिए। गले में एक बिल्ला लटका दिया गया जिसमें क्रम संख्या—32778 के अतिरिक्त एक दुर्लभ अक्षर भी अंकित था—'डी', अर्थात् डेंजरस, (खतरनाक)। इसी बिल्ले पर दण्ड दिए जाने व मुक्ति का दिन,

---

1. दुख और बलिदान का महत्त्व बताते हुए सावरकर ने 6 जुलाई, 1916 को अंडमान से भेजे एक पत्र में लिखा था, "याद रखो, कष्ट सहन भी एक महान कार्य है। वास्तव में सच्चा कार्य कष्ट सहन ही है, और सच्चा कष्ट सहन ही श्रेष्ठ कार्य है। जीवन में दोनों ही अनिवार्य हैं। काम करने वाला श्रेष्ठ है, क्योंकि वह एक पत्थर उठाकर दूसरे पत्थर पर रखता है। पर कष्ट सहने वाला इन दोनों पत्थरों को जोड़ने में सीमेंट का काम करता है। देश की इमारत शहीदों के खून के सीमेंट से ही बनती है।"

दोनों ही लिखे हुए थे। "दण्ड ई० स० 1910 तथा मुक्ति ई० स० 1960। समस्त सुख संपत्ति से वंचित, सावरकर ने मानो सिर पर कांटों का ताज पहन लिया हो। उन्हें हथकड़ी-बेड़ियों से जकड़ दिया गया। काला पानी भेजने से पूर्व तक उन्हें बम्बई के कारागृहों में रखा गया[1]। संयोग की बात कि यहां डोंगरी जेल में उन्हें उसी बैरक में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, जहां इससे पहले उनके गुरु व आदर्श लोकमान्य तिलक को दो बार रखा गया था।

यहां मिलने आने वालों में सबसे अधिक स्मरणीय व मार्मिक भेंट थी उनकी अपनी पत्नी यमुना बाई से--"क्यों ?···ऐसे क्यों देख रही हो ?···क्या मुझे पहचाना नहीं ? अरे, मैं वही तो हूं, तुम्हारा पति। वही मन है, वही आत्मा। केवल तन को ढकने वाला यह चोला बदल गया है। वैसे एक तरह से यह मोटे और खुरदुरे कपड़े अधिक अच्छे हैं। इन्हें पहनकर जाड़ों में ठंड नहीं लगती।"

सावरकर के यह शब्द सुनकर उनकी 19-वर्षीय पत्नी माई सावरकर फूट-फूटकर रोने लगीं। मोटी-मोटी लोहे की सलाखों के पीछे, टाट के कपड़े पहने, हथकड़ियों-बेड़ियों से जकड़े सावरकर की यह दशा और यह उद्गार उससे सहे नहीं गए। तब सावरकर ने उसे धीरज बंधाते हुए कहा--"आंसुओं को पोंछ डालो, प्रिय ! यह रोने की नहीं, गौरव करने की घड़ी है। मातृभूमि के लिए उठाए गए कष्टों पर दुःख नहीं, गर्व होना चाहिए। चिन्ता न करो, ईश्वर ने चाहा तो फिर भेंट होगी। इस बीच यदि यह समाज या अन्य दुर्विचार तुम्हें सताएं तो मन में यह विचार लाना कि केवल सन्तानोत्पत्ति करके परिवार का विस्तार करना अथवा चार तिनके जमा करके घर बना लेना ही जीवन कहलाता है, तो ऐसा तो पशु-पक्षी भी कर लेते हैं। और यदि परिवार का व्यापक अर्थ 'मानव परिवार' है तो इसे सजाने में हम निश्चय ही पूर्ण सफल रहे हैं। माना कि अपना सुखी जीवन स्वयं हमने अपने ही हाथों मिटा डाला, किन्तु इसी से भविष्य में सहस्रों घरों-परिवारों में सुख की वर्षा होगी। हमने अपने घरों में जो आग लगाई है, उसी की लपटों से भारत मां के भाल पर स्वतन्त्रता का उजाला होगा। तब क्या हमें अपना बलिदान सार्थक नहीं लगेगा ?"

पति-पत्नी की यह भेंट बड़ी हृदय-विदारक थी। डोंगरी जेल से हटाकर उन्हें कुछ समय के लिए बम्बई की ही भायखला जेल में रखा गया। यहां से एक विशेष रेलगाड़ी द्वारा उन्हें मद्रास ले जाया गया। यहां से 27 जून को 'महाराजा' नामक

1. जेल के एक अधिकारी के व्यंग्य पर कि "क्या आप पचास वर्ष बाद जीवित लौट सकेंगे ?" सावरकर ने तपाक से उत्तर दिया—"क्या पचास वर्ष तक फिरंगियों की यह बर्बर जल्लादी सरकार टिकी रहेगी ?" उनका यह कथन सच ही होकर रहा।

जलपोत द्वारा उन्होंने अंडमान की ओर प्रस्थान किया। 'स्वातन्त्र्य सम्राट' के लिए इस जलपोत का नाम भी कितना उपयुक्त था।

चार दिन, चार रात, सागर के वृहत् वक्षस्थल को चीरता यह जलपोत 2 जुलाई को पोर्ट ब्लेअर पहुंचा। जहाज़ से उतरकर अपना कम्बल-थाली सम्हाले यह वीर चल पड़ा उस कारागार की ओर जहां के नारकीय द्वार में एक बार प्रवेश हो जाने के बाद, वहां दी जाने वाली पैशाचिक यातनाओं को झेलकर कोई विरला ही जीवित लौट पाता था। पर हमारा नायक, वीर विनायक, जिसे 'कालजयी' और 'मृत्युंजय' भी कहा जाता है, 11 वर्ष तक कालापानी[1] का कालकूट पीकर भी सही सलामत लौट आया। उनके अंडमान के जेल अनुभव जानने के लिए आवश्यक है कि पाठक सावरकर की आत्मकथा, 'आजन्म कारावास अर्थात् अंदमान का प्रियप्रवास' का भी अध्ययन करें।

1. श्री गोपाल गोडसे ने इस 'काला पानी' को 'काल जल' कहा है, अर्थात् जिस जल को पीकर व्यक्ति काल का ग्रास हो जाय। मैंने, मूल अंग्रेज़ी पुस्तक में 'एण्डमन' शब्द को, 'एन्ड-ए-मेन' कहकर परिभाषित किया है, अर्थात् जहां ले जाकर व्यक्ति को समाप्त कर दिया जाय।

हिन्दी तथा मराठी संदर्भ ग्रन्थ

अत्रे, प्रह्लाद केशव, 'सावरकर साहित्य नवनीत', (मराठी), बम्बई : महाराष्ट्र ग्रन्थ भंडार, 1958.

करन्दीकर, स० ल० 'सावरकर चरित्र', (मराठी) पुणे : मार्डन बुक डिपो प्रकाशन, 1947.

कल्लोल, अनन्त, 'स्वातन्त्र्य वीर सावरंकर' (पद्माकर द्वारा हिन्दी में अनूदित) नागपुर : भारत भारती, 1980.

गाउडे, प्रभाकर लक्ष्मण, 'विनायक दामोदर सावरकर' : एक चिकित्सक अभ्यास (मराठी) पुणे : स्वाध्याय महाविद्यालय प्रकाशन, 1970.

गुप्त, मन्मथनाथ गुप्त,'भारत के क्रान्तिकारी' (हिन्दी) दिल्ली : हिन्द पाकेट बुक्स 1969.

गोयल, शिवकुमार, 'विनायक दामोदर सावरकर' (हिन्दी), दिल्ली : भारतीय साहित्य सदन.

धर्मवीर, 'भाई परमानन्द और उनका युग' (हिन्दी), दिल्ली : भाई परमानन्द स्मारक समिति, 1981.

धारपुरे, केशव विनायक, 'स्वातन्त्र्य वीर सावरकर : व्यक्ति और तत्त्व ज्ञान', (हिन्दी पुनर्मुद्रण) नागपुर : सावरकर तत्त्व ज्ञान प्रसार प्रेस, 1967.

मराठें, गोविन्द राव, 'सावरकर : जीवन चरित्र' (हिन्दी, तृतीय संस्करण), प्रयाग : छात्र हितकारी पुस्तकमाला, 1947.

शास्त्री, प्रेमचन्द्र,'स्वातन्त्र्य वीर सावरकर : जीवन दर्शन' (हिन्दी), दिल्ली : आर्य प्रकाशन मंडल, 1981.

सावरकर बालाराव, 'वीर सावरकर अणि गांधीजी' (मराठी), बम्बई : वीर सावरकर प्रकाशन, 1967.

सावरकर वि० दा० 'क्रान्ति के नक्षण' (मैज़िनी के चरित्र का हिन्दी अनुवाद), दिल्ली : राजधानी ग्रन्थागार, 1982.

'क्रान्ति घोष' (मराठी), संपादक, बालाराव सावरकर, बम्बई : डिवाइन प्रकाशन 1979.

'लन्दनची बातमीपत्रे', (मराठी, पांचवां संस्करण), बम्बई : वीर सावरकर प्रकाशन, 1976.

'सावरकरांची कविता', (मराठी, तीसरा सस्करण), सम्पादक, व० ग० मायादेव, बम्बई : सुदर्शन आर्ट प्रिंटिंग प्रेस, 1973.

'शत्रुंच्या शिविरांत' (मराठी), बम्बई : परचुरे प्रकाशन मन्दिर, 1965.
'हिन्दू ध्वज,' बम्बई : निर्भय मुद्रणालय
सिन्धु, वीरेन्द्र (श्रीमती), 'युगद्रष्टा भगतसिंह' (हिन्दी), वाराणसी : भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1968.
सिंह, बनारसी, 'लन्दन में गोली' (हिन्दी), दिल्ली : राजधानी ग्रन्थागार, 1977
सिंहल, मदन गोपाल, 'स्वातन्त्र्य वीर सावरकर', (हिन्दी, दूसरा संस्करण) मेरठ : गोपाल प्रकाशन.
सोनपाटकी, मुकुन्द, 'दर्यापार' (मराठी), पुणे : पुरन्द्रे प्रकाशन, 1980.
श्रीवास्तव, मोहनलाल, 'श्रेय (हिन्दी) क्रान्तिदूत परमानन्द अंक', दिल्ली : भारतीय साहित्यकार संघ, 1982.

अंग्रेजी संदर्भ ग्रंथ

ALDRED, GUY. 'No Traitor's Gait', Glasgow : The Strickland Press, 1956.

ANAND, VIDYASAGAR. 'Savarkar : A Study in the Evolution of Indian Nationalism. London : Woolf, 1967.

BANERJEE, S. N. 'A Nation in Making.' Madras : Oxford University Press, 1925.

BROWN, EMILY C. 'Har Dayal : Hindu Revolutionary and Rationalist,' Delhi : Manohar, 1975.

CHIROL, VALENTINE. 'Indian Unrest' (Reprint) Revised and enlarged from 'The Times', London : Macmillan, 1910.

CHITRAGUPTA. 'Life of Barrister Savarkar', Madras : B. G. Paul and Co., 1926.

CHITRAGUPTA, and PRAKASH, INDRA. 'Life of Barrister Savarkar,' Delhi : Hindi Mission Press, 1939.

COLLINS, LARRY and LAPIERE, DOMINIQUE. 'Freedom At Midnight', Delhi : Vikas, 1974.

DIGNAN, DON. 'The Indian Revolutionary Problem in British Diplomacy (1914-1919,)' Delhi : Allied Publishers, 1983.

GARNETT, DAVID. 'The Golden Echo,' Vol. I. London : Chatto and Windus, 1970.

GHOSH, TAPAN. 'Gandhi Murder Case,' Delhi : Asian Publishing House, 1974.

GUTPA, MANMATH NATH. 'History of the Indian Revolutionary Movement.' Bombay : Somaiya, 1972.

HUNT, JAMES D. 'Gandhi in London.' New Delhi : Promilla and Co., 1978.

JOSHI. G. M. 'Death Conqueror : Veer Savarkar (Life in Sketches), Editor and Publisher Balarao Savarkar, Bombay : Veer Savarkar Prakashan, 1976.

KEER, DHANANJAYA. 'Mahatma Gandhi : Political Saint and Unarmed Prophet', Bombay : Popular Prakashan, 1973.

'Savarkar and his Times,' Bombay : Popular Prakashan, 1950.

'Veer Savarkar', Bombay : Popular Prakashan, 1966.

LAL, PARMANAND. 'Andaman Islands', Calcutta : Anthropological Survey of India, 1976.

MAJUMDAR, R. C. (Gen. Editor). 'Struggle For Freedom' (The History and Culture of the Indian People), Vol.XI, Bombay : Bharatiya Vidya Bhavan, 1969.

MALGONKAR, MANOHAR. 'The Men Who Killed Gandhi. Delhi : Orient Paperbacks, 1981.

MUNSHI, K. M. 'Pilgrimage To Freedom.' Vol. I, Bombay : Bharatiya Vidya Bhawan, 1968.

MURTHY, NARASIMHA. 'Madame Cama,' Bangalore : Rashtrotthana Sahitya, 1968.

PADMANABHAN, R. A. 'V. V. S. Aiyar, New Delhi : National Book Trust, 1980.

PARMANAND, BHAI. 'The Story of My Life,' Lahore : The Central Hindu Yuvak Sabha, 1934.

PARVATE, T. V. 'Bal Gangadhar Tilak,' Ahmedabad, Navjeevan Publishing House, 1958.

PRADHAN, G. P. and BHAGVAT, A. K. 'Lokmanya Tilak,' Bombay : Jaico, 1959.

RAI, LAJPAT. 'Young India' (Reprint), Delhi : The Publications Division, Govt. of India, 1965.

RIDLEY, JASPER. 'Garibaldi,' New York, Viking Press, 1976.

SARKAR, SUMIT. 'Modern India (1885-1947),' Delhi : Macmillan, 1983.

SAVARKAR, V. D. 'An Echo from Andamans,' Nagpur : V. V. Kelkar.

'Indian War of Independence' (8th Edn.). Delhi ; Rajdhani Granthagar, 1970.

'O' Martyrs,' London : India House, 1909.
'Savarkar Kavita,' (Marathi, 3rd Edn.), Ed. V.G. Mayadev Bombay : Sudershan Art Printing Press, 1973.
'Six Glorious (Golden) Epochs of Indian History,' (Translated and edited by S. T. Godbole), Bombay : Bal Savarkar, Delhi : Rajdhani Granthagar, 1971.
'The Story of My Transportation For Life,' Bombay: Sadbhakti Publications, 1950.
'Thus Spake The Prophet' (A collection of Savarkar's writings and speeches). Edited and translated by Pandit Bhakle, Bombay : Hindu Sabha Publications, 1963.
SINHA B. K. 'In Andamans : The Indian Bastille,' Kanpur : Profulla C. Mittra, 1939.
YAJNIK, I. L. 'Shyamji Krishnavarma : Life and Times of An Indian Revolutionary', Bombay : Lakshmi Publications, 1950.

पत्र-पत्रिकाओं की दृष्टि में

1 मई 1907 को जब अंग्रेज तथाकथित 'भारतीय गदर' पर अपनी 'विजय' की स्वर्ण जयन्ती मना रहे थे, तब लंदन व पेरिस में भारतीय क्रान्तिकारियों ने वीर सावरकर के नेतृत्व में अंग्रेजों को मुंहतोड़ जवाब देने की योजना बनाई । हरीन्द्र श्रीवास्तव की यह पुस्तक इन प्रेरक प्रसंगों से परिपूर्ण है. विशेषकर सावरकर का मार्सेल्स से ऐतिहासिक पलायन जिसने सारे जगत में बावेला मचा दिया।

—हिन्दुस्तान टाइम्स

हरीन्द्र श्रीवास्तव की यह पुस्तक इस बात का उदाहरण है कि स्वतंत्रता संग्राम में जूझते हुए किसी व्यक्ति, उसके काल तथा उसके राष्ट्र का इतिहास कैसे लिखा जाना चाहिए ।

—इंडिया टुडे

आश्चर्य होता है कि जब वीर सावरकर का व्यक्तित्व सचमुच इतना आकर्षक था, वाणी इतनी ओजस्वी, विचार इतने उत्तम, आस्था इतनी अटूट, आदर्श इतने महान और बलिदान इतना अनमोल—तो भारतीय स्वतंत्रता के इतिहास में उन्हें समुचित सम्मान क्यों नहीं दिया जाता ?

– पेट्रियट

लंदन के उस रहस्यमय इंडिया हाउस के संचालक वीर सावरकर की प्रेरक गाथा ।

—स्टेट्समैन

इसमें संदेह नहीं कि तत्कालीन ब्रिटिश सरकार से मोर्चा लेने वाले क्रान्तिकारियों में सावरकर अग्रिम पंक्ति में थे। पुस्तक के लिए लेखक ने काफी परिश्रम किया है । पुस्तक ऐतिहासिक उपन्यास जैसी लगती है । भाषा की रोचकता पाठक को अंत तक बांधे रखती है।

—हिन्दुस्तान

लंदन में सावरकर के क्रान्तिकारी कार्यों का मार्मिक विवरण।

- महाराष्ट्र टाइम्स (मराठी)

[illegible] जन्मशता[illegible] पर [illegible]तनी भी पुस्तकें लिखी गईं उनमें इस कालखंड ऐस[illegible] प्र[illegible] [illegible] पे[illegible] [illegible] आज त[illegible] नहीं लिखी गई।

—काल (मराठी)

सर्वांगीण चित्रण !

—तरुण भारत (मराठी)